

- पुस्तक  
जैनदर्शन ग्रन्थालय और विज्ञेयालय
- आशीर्वचन  
गजस्थान के मंत्री श्री पुराण मुनि जी ग.
- लेखक  
देवेन्द्र मुनि, जाम्बवी 'माहित्यरत्न'
- पृष्ठ : ६५२
- प्रथम प्रवेश  
सितम्बर १९७५ (पर्युषणपर्व)  
२५वाँ महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष
- मूल्य  
तीस रुपये
- सर्वाधिकार प्रकाशकाचीन
- प्रकाशक  
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय  
जाम्बवी मर्कंल उदयपुर (गज०)
- मुद्रण व्यवस्था  
श्रीचन्द्र मुराना के निए  
दुग्धी प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४







प्रकाशकीय

‘जैनर्मान स्वस्त्र और टिकाएँ, रामा मार दूषण करो तो हमारी प्रिय पाठकों के लग्जरीमनों में गर्भापात्र तथा बालों गोरखी तो हमारे रुग्णते हैं। लेकिन ने जैनदर्शन के गम्भीर मोर्फिं तो पर इसमें गम्भीर हृषिकेश प्रकाश आया है। जैनर्मान तो ऐसा भी मोर्फिं तो इसमें नहीं रहा है जिस पर लेखक ने प्राप्ति न आया हो। ऐसा तो जाग-नृपति ऐसी तातो जाग छोड़ दी है जिनका केवल मान्यता भी हृषिकेश मरणी, तो शर्षी तो हृषिकेश मरणी नहीं है। लेखक की मापा में प्रवाह है, चिनागा में गम्भीरता है, और धीरी में टिका कपकता है। ग्रन्थ मरण भी, मरण भी और गम्भीर भी है। मरणजन-मोरण भी है और विद्वज्जन-मोरण भी। जैन आचार और मारना पर लेखक तो स्वातन्त्र्यपूर्ण ग्रन्थ तैयार कर रहा है। अन प्रम्मनु ग्रन्थ में उम पिंगल पर प्राप्ति नहीं आया गया है। जैन-परम्परा के उन्निहाम पर भी उमीलिंग प्रम्मनु ग्रन्थ में प्राप्ति नहीं आया गया है कि उम पर लेखक न ‘मगवान महावीर एवं अनुशीलन’ ग्रन्थ में चिन्तन किया है।

उम महन्त्यपूर्ण ग्रन्थरत्न का प्रकाशन ऐंगे परम पवित्र म्बर्णाविमर के उपनय में हो रहा है जो ममग विद्व के लिए गोरवपूर्ण अवमर है। भगवान महावीर वी पञ्चीमवी निर्वाण शताव्दी मनाने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। विविध प्रकार का माहित्य भी प्रकाशित हुआ है। श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय अपने विशुद्ध मास्त्रिक परम्परा की हस्ति में श्रेष्ठ प्रकाशन मदा में करता रहा है। उम पुनीत अवमर पर वह अधिव जागरूक रहा। उमने 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' जैसा धोध-प्रधान ग्रन्थ प्रदान किया, जिसकी मूर्धन्य मनोपियो ने मुक्त कठ में प्रदाना करते हुए लिना कि निर्वाण शताव्दी का यह मर्वेश्रेष्ठ महावीर जीवन विषयक प्रकाशन है। उमके अतिरिक्त 'भगवान महावीर की मूर्क्तियाँ, महावीर जीवन दर्शन, द्विव्य पुरुष, म्बाद्याय-मुद्धा' आदि अनेक प्रदानित उपहार दिये। उमी लटी की कड़ी में ही प्रस्तुत ग्रन्थराज भी है।



# लेखक की कलम से

दर्शन मानव का दिव्य चक्र है। मानव जगत् जगत् में जिसे नहीं देख सकता है, उसे वह दर्शन नहीं में देखता है। दर्शन का अर्थ है तजा का गादालाल का उपलब्धि।

विश्व के स्वरूप का विवरण रखना, प्रिय में तिर और अनिन् गना का क्या स्वरूप है, उन गत्ताओं का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पहुँचा है? उन सभी प्रश्नों का गहराई में सही अनुग्रहन रखना दर्शनशास्त्र का प्राकृत माप लक्षण रहा है।

दर्शन की पारा अत्यधिक प्राचीन है। प्रिय के उत्तिहास में भारत और यूनान में दो देश दर्शन के आविर्कारक रहे हैं। विश्व के सभी दर्शन भारत और यूनान में प्रभावित रहे हैं। पूर्व के जिनमें भी दर्शन हैं, उनमें भारत ने प्रभावित किया है और पश्चिम के सभी दर्शन यूनान में प्रभावित हुए हैं।

भारत के सभी दर्शनों का मुख्य ऐय आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन करता है। चेतन और परम चेतन के स्वरूप को जिस समझता और व्यग्रता के माध्यमानीय चिन्तकों ने समझने का प्रयाग किया है, उनका यूनान के दार्शनिकों ने नहीं। यह गत्य है कि यूनान के दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उनकी प्रतिपादन यैनी मुन्द्रर है किन्तु वे उनका विशद और स्पष्ट वर्णन नहीं कर पाए हैं। यूरोप का दर्शन आत्मा का दर्शन न होकर जट प्रछति का दर्शन है। भारतीय चिन्तकों ने प्रछति के स्वरूप का विश्लेषण किया है किन्तु उनका अधिक मुख्य आत्मा की ओर है। प्रछति का जो मूद्दम विश्लेषण है, वह भी आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए है। भारतीय दर्शन का आनंदा भी और लगाव होने पर भी उसने कभी भी जीवन और जगत् की उपेक्षा नहीं की है।

दर्शन रिचार और नार पर आधृत है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता और परम गना के स्वरूप हो गमझने का प्रयाग करना है और किंवदं वह उसकी प्रतार्थी पर आग्या रखने के लिए उन्नेश्वर करता है। उम प्रकार भारतीय दर्शन में बद्धा रीरा इसका मानुष समन्वय है किन्तु पठिन्दी दर्शन में बोद्धिक और मैदानिक रीरा भी प्रमुख है। पठिन्दी दर्शन स्पान्द्र चिन्तन पर आधृत है, वह आप्य प्रभाव की जगत् रखता है। भारतीय दर्शन चेतन और परम चेतन स्वरूप की अन्वेषणा करता है, उसका प्रमाण लक्ष्य मात्र प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन की यदि कोई रीरा रिंपा है तो उसे पारनान्य दर्शन में पृथक् करनी है तो वह मोद चिन्तन है।



परम श्रद्धेय अध्यात्मगोंगी गजमानके मर्मी "मिराजा मरुमः ८ वी पूर्ण मुनि जी महाराज ने गुरुजे आदेश परान किया थि" "मण ममान मरा रीर तीर तीर गिरने निवाण शताब्दी पर अन्य गन्धों के माथ गुरुजे जैनशन पर नी एक मुन्द्रर मरा तिरान है।" पूज्य गुरुदेव श्री गी आज्ञा का पालन करना मरा तीर तीर गिरने के मैंने सन् १९७१ मे वस्त्र लादावारी नामुर्मार्ग मे निराना पारम्परा किया। जब म समय मिला अव्ययन के माम लिगता रहा। मन् १९७२-१९७३ मे जो पुरुष और अजमेर वर्षावास मे 'भगवान महावीर एवं अनुशीलन' गन्ध के निरान मे अन्यान्य व्यस्त होने से इस ग्रन्थ का निरान स्थगित रहा। मन् १९७४ के अहमदावाह वर्षावास मे प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रथम पूर्ण करने का मकल्प किया गया और वह मकल्प अव पूर्ण होने जा रहा है यह प्रमन्त्रता की वात है। उनकी अपार कृपाहृष्टि और आशीर्वाद ने मेरे पथ सदा आलोकित रहा है, ग्रन्थ मे जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह श्रद्धेय मद्गुरुनाम की ही कृपा का प्रतिफल है।

परमादरणीया प्रतिभासूर्ति मातेश्वरी महामती श्री प्रभावती जी म व ज्येष्ठ भगिनी परम विदुपी माध्वी रत्न श्री पुण्यवती जी को भी मे विस्मृत नहीं कर मकता जिनकी सतत प्रेरणा और हार्दिक शुभाशीर्वाद से मे ग्रन्थ को पूर्ण कर माना हूँ।

सेवासूर्ति श्री रमेश मुनि शास्त्री, राजेन्द्र मुनि शास्त्री और दिनेश मुनि जी की निरन्तर सेवा सहयोग के कारण मे अपनी गति मे प्रगति कर मका हूँ, अत उसका अकन भी अस्थान न होगा।

जैन जगत् के यशस्वी लेखक प्रवर शोभाचन्द्र जी भारिल ने प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर आवश्यक संशोधन किया तदर्थ मे उनका हृदय से आभार मानता है, जैनदर्थन के मर्मज विद्वान दलसुखमाई भालवणिया ने आवश्यक सुझाव दिये हैं। अत उनके स्नेहपूर्ण सदव्यवहार को भी मे नहीं भूल सकता। साथ ही स्नेह शोजन्यसूर्ति श्रीयुत श्रीचन्द्र जी मुराना को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता जिन्होने ग्रन्थ को मुद्रण कला की हृषिट मे सर्वाधिक मुन्द्रर बनाने का प्रयास और गहराईपूर्वक प्रूफ मशोधन कर मेरे श्रम को कम किया।

उम ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे परम विदुपी महामती के सरदेवी जी की शुभिष्या माध्वी मजुश्री जी एव विजयश्री जी ने पूर्ण सहयोग दिया है। मे उन्मामने भर महाराज विस्मृत नहीं कर सकता।

मैंन ग्रन्थ मे जनेरा निरानो के ग्रन्थों का उपयोग किया है उन सभी ग्रन्थ और ग्रन्थमार्ग रा मे अच्छी हैं।

नामा है मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

गार्डी मदा  
ग्रना (मदागार्ड)  
दि १५ नवम्बर १९७५ }  
—वेदेन्द्र मुनि



विद्युति एवं प्रक्रिया

प्राणमय-आत्मा -३०, विद्युति-आत्मा -३३, विद्युति-जन्मा -३४, जन्मा-विद्युति -३५, जीव का स्वरूप -३८, जैनहठिट के माथ मानव -४१, जगत् वैज्ञानिक दर्शन के माथ तुलना -६२, वौद्धहठिट में विद्युति -४२, विद्युति चिनारधारा—प्रतिविम्बवाद, अवच्छेदवाद, विद्युति -४३, जीव का परिमाण -२०६, जीव का लक्षण -२०७, जीव और आत्मा -२०८, विनागो का गरीब विद्युति -२०९, विद्युति का स्वरूप -२१०, आधुनिक विज्ञान -२११, विद्युति का दर्शन क्या है? -२१५, क्या उन्हियाँ और वे लोग जीव का आत्मा के भनारात पड़ेग -२१३, आत्मा पर विद्युति -२१४, आत्मा की विज्ञिदि -२१९, जीव विभाग -२२०।



निश्चेपवाद : एक विद्योपयण

२३६-२८७

निश्चेप सी परिमापा -२५०, निश्चेप गा लग -२५१, निश्चेप गा आधार -२५२ निश्चेप पद्धति सी उपर्योगिता -२५३, लग और निश्चेप -२५३, नाम निश्चेप -२५४, ग्राहना निश्चेप -२५४, उच्च निश्चेप -२५५, जाव निश्चेप -२५६।

निश्चेपवाद : एक अध्ययन

२४८-३२८

विचारणा सी विनि -२५१, नव विभाग गा आधार -२५०, दो परम्परागां -२५१, दोष लग -२५२, नैगमालाम -२५३, सप्रहनप -२५४, सग्रहालाम -२५५ आवहानप -२५६, आवहानलाम -२५०, अङ्गसुवनप ३०१, क्लृपुरगालाम -२०३, शब्दलग -२०३, शब्दलयालाम -३०८, समस्मिन्द्रनय -३०९ सप्तमिस्त्रानपालाम -३००, एवभृतलप -३००, एवभृतानलयालाम -३०१, द्वया गा लग दृग्मि से सप्तलप -३०१, आव्यानिमि दृग्मि से नव लग लिप्तल -३०१ ग्रामा और लग -३१३, उच्चारित्र और पर्यायार्थ दृग्मि -३१४ उच्चारित्र और प्रदेशार्थ दृग्मि -३१५, आवहानित्र और मिलित्र दृग्मि -३१६, लगलप और शब्दलप -३१८, नव ले प्रशार -३१९, नव ग्रामा गा लिप्तल -३२१, सुनप और दृग्मि -३२०, जैनदर्शन सी लिप्तल -३२१।



२७६-२८३

## निषेद्वादः एक विशेषण

निषेद जी परिसापा -२८० निषेद जा ज्ञा -२८१; निषेद का असार  
 -२८२ निषेद पहुँच जी उपयोगिता -२८३ ज्ञा और निषेद -२८४ का सम  
 निषेद -२८५ उपयोग निषेद -२८६ इत्या निषेद -२८७ ज्ञा  
 निषेद -२८८ ।

## निषेदवादः एक अध्ययन

२८८-३२४

विचारणात् जी निषिद्ध -२८९ ज्ञा विनाश जा असार -२९० दो परम्पराएँ  
 -२९१ जैगम ज्ञा -२९२ जैगमाभास -२९३ जैगहत्य -२९४, जैगहानाम  
 -२९५ जैगहात्य -२९६ जैगहारानाम -२९७ गुलदात्य ३००  
 गुलदात्य भास -२९८ गुलदात्य -२९९ गुलदात्यानाम -३०१ नमनिरुद्धय  
 -३०२ नमनिरुद्धयाभास -३०३ गुलदात्य -३०४ एवद्वात्यानाम  
 -३०५ ज्ञो जा एक दूसरे मे मस्करा -३०६ आवार्गिक हरिट जे ज्ञा  
 ज्ञा जिम्मन -३०७ एमार और ज्ञा -३०८ ब्रह्मार्थिक और पर्यायार्थिक  
 हरिट -३०९ ब्रह्मार्थिक और पद्मार्थिक हरिट -३१० व्यावहारिक और  
 नैत्यार्थिक हरिट -३११ अध्यन्य और राजदत्य -३१२ ज्ञा के एकार -३१३  
 ज्ञा एमार या अमार -३१४ गुलदात्य और दुर्विद्य -३१५ दैनदर्शन की

---



## पंचम खंड : जैनदर्शन और विश्वदर्शन ५०३-५४४

**विश्वदर्शन • एक अनुचित्तन**

५०३-५

मार्गीय दर्शन- ७०७, वैदिक दर्शन- ७०६, चार्वाक दर्शन- ७०६, जैन दर्शन- ७०७, बौद्ध दर्शन- ५०७, मार्ग्य और योग दर्शन- ७०८, न्याय और वैयेपिक दर्शन- ७०६, मीमांसा और वेदान्त दर्शन- ७०६, यूनानी दर्शन- ७१०, अर्ची दर्शन- ७१३, मूळी मम्प्रदाय- ७१८, यूरोपीयदर्शन- ७१५, भारतीय दर्शन में नया युग- ७१७।

**जैनदर्शन और बौद्धदर्शन**

५१६-५२३

जैन और बौद्धदर्शन में समानता- ५१६, नन्द व्यवस्था- ५१६, निर्वाण-मोक्ष- ५१७, निर्वाण का मार्ग- ५१७, प्रमाणवाद- ५१२, नित्य-निन्यवाद- ५१३।

**जैनदर्शन और मार्ग्यदर्शन**

५२४-५३०

**जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन**

५३१-५३६

विद्व- ५३१, प्रमाणवाद- ५३२, ब्रादर्शवादी-यवार्यवादी- ५३३, हृतवादी-बहुत्यादी- ५३४ माधवा का मार्ग- ५३५,

**जैनदर्शन की विद्या को देन**

५३७-५४४

### परिशिष्ट ५४५-६३५

परिशिष्ट

५४३

परिशिष्ट मर्तारा

५४५

परिशिष्ट रुद्र मूर्ती

६०८

परिशिष्ट मात्स्य व मात्स्यराग

६१६

परिशिष्ट [ मात्स्यन महावीर एवं अनुशीलन ]

६२३





## दर्शन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

- १ इंग्रज़ी
- २ देवी दीप्ति
- ३ देवी दीप्ति भारतीयोंमें प्रभाव
- ४ देवी दीप्ति विवर
- ५ देवी दीप्ति विवर
- ६ देवी दीप्ति विवर
- ७ देवी दीप्ति विवर
- ८ देवी दीप्ति विवर



### दर्शन की उत्पत्ति

मानव चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन मानव का आदि स्वभाव है। वह प्रत्येक वस्तु पर गहन चिन्तन-मनन करता है। जब से मानव ने चिन्तन-मनन प्रारम्भ किया तब से दर्शन का प्रारम्भ हुआ। प्रस्तुत नियम के अनुसार दर्शन उतना ही पुरातन है जितना मानव स्वय। तथापि दर्शन की उद्भूति के मध्यन्ध में दार्शनिक विद्वानों में विभिन्न मत रहे हैं। जिनको जैसी परिभ्रमिति या वातावरण मिला उसके अनुरूप उन्होंने दर्शन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चिन्तन किया। किसी ने तर्क को प्रधानता दी, तो किसी ने आश्चर्य को, किसी ने सन्देह को, तो किसी ने बुद्धि-प्रेम को, किसी ने वाह्य जगत को तो किसी ने आत्म तत्त्व को। इस मत-भिन्नता के मूल में वाह्य परिस्थितियाँ भी कार्य करती रही हैं।

तर्क

फितने ही दार्शनिकों का यह अभिमत है कि दर्शन का उद्गम स्थान तर्क है। 'कि तत्त्वम्' उस तर्क से ही दर्शन का प्रारम्भ होता है। दर्शन से पूर्व श्रद्धा का युग था। श्रद्धा युग में आत्म पुरुषों की वाणी को मात्र श्रद्धा की हाईट में माना जाता था। श्रद्धाशील लोग यह समझते थे कि यह हमारे आगत्य वेद के मूँह से उच्चरित है अत उसे हमें विना सकोच के मानना चाहिए। यह महावीर की वाणी है, यह बुद्ध का उपदेश है। यह मनु की मिथ्या है। निमाई जिमके प्रनि श्रद्धा श्री उसके वचन उसके लिए शास्त्र रन गए।



है। किसी भी भारतीय दार्शनिक ने आचर्चर्य से दर्शन की उत्पत्ति न मानी है।

### व्यावहारिकता

कितने ही दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति का कारण व्यावहारिकता को मानते हैं। उनका अभिमत है कि जीवन में व्यवहार पक्ष की सिद्धि के लिए ही दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। दर्शन की प्रस्तुत विचारधारा व्यावहारिकतावाद के नाम में विश्रुत है, वरतुत यह विचारधारा दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के अधिक सन्निकट है। इसका दृष्टिकोण भीतिकता-प्रधान है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन का आधार व्यावहारिकतावाद ही था।

मानवतावादी दर्शन मानवता का अध्ययन मानव और उसकी आवश्यकताओं एवं सम्पूर्ण वीद्विक, व्यावहारिक और धार्मिक क्रियाओं को अपनी सीमा के अन्तर्गत मानता है। वह मानव के व्यावहारिक एवं लाभदायक परिणामों पर चिन्तन करता है। उसके अनुसार मानव-जीवन और उसकी समग्रादी ही दर्शन-ज्ञानव का मूलाधार है। मानवतावादी दर्शन का यह स्पष्ट आधोप है कि दर्शन ही नहीं, कला, साहित्य, विज्ञान, सर्गीत, अत्मात्म-ज्ञान एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जितना भी विकास हुआ है उसका मूल आधार मानव की दुदिंह है। मानव चाहे किसी भी क्षेत्र में रहा हो, उसके चिन्तन का ढग प्रायः एक सट्टण ही है। मानव रवय अपने सम्बन्ध में भी मोनना ही और अपने गे भिन्न अन्य चेतन प्राणियों के सम्बन्ध में भी फिरार हराता है। जरा और नेनन, ग्व और पर सभी पर मानव-प्रजा ने गम्भीर निरान लिया है और वह आज भी चिन्तन कर रही है। मानव का यह फिरान भी दर्शन का मूल आधार रहा है। एक पाश्चात्य दार्शनिक

मानवार्जुन-प्रम (Love of Wisdom) ही दर्शन का आधार है। रामनिक गुरुगत ने आत्म-ज्ञान को दर्शन का आधार किया। यहाँ सीमा भी गमग्या भारत में वेद और उपनिषदों में, वारोदर्श-विद्विक में अत्यात्मवाद के स्पष्ट में दृष्टिगोत्तर दर्शन का नियन नहीं किया गया था। वर्तन्प्रम गे ही गा आत्म-ज्ञान में किन्तु फिरान लिया गया था। फिरान लिया महत्वगूण गार्य लिया है। उसने



दर्शन ने जो यह स्वप्न हमारे सामने रखता है, वह अन्यत्र कही भी उपलब्ध नहीं होता।

### दर्शन और फिलोसोफी में अन्तर

दर्शन और फिलोसोफी (Philosophy) यद्यपि ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय माने जाते हैं किन्तु दोनों शब्दों के अर्थ में बहुत अन्तर है। 'दर्शन' शब्द आत्म-ज्ञान की ओर गकेत करता है, तो 'फिलोसोफी' शब्द कुशल कल्पनाशील विज्ञों के मनोरजन की ओर सकेत करता है, चूंकि विश्व की विचित्रता को निहार कर समुत्पन्न होने वाली आव्वर्य भावना को शान्त करने हेतु 'फिलोसोफी' का उद्भव हुआ है। किन्तु दर्शन देहिक, देविक और भीतिक दुखों से चिन्तित होकर उसके मूल के उच्छेदन हेतु चिन्तन करता है और अपने लक्ष्य तक पहुँचने का मही मार्ग खोजता है। यही कारण है कि 'दर्शन' शब्द अधिक गम्भीरता और विशालता को लिए हुए है। पार्वतात्य दर्शन की अपेक्षा भारतीय दर्शन लोक-व्यवस्था और लोक-व्यवहार तक ही सीमित न रहकर अध्ययन के भव्य-भावों तक पहुँचने का प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रयास करता रहा है। उसका गह प्रयास माधवना या जीवनोन्नति का साधन कहा गया है। किन्तु 'फिलोसोफी' शब्द इतने विराट भाव और उदात्त भावना को अभिव्यक्त नहीं कर पाता।

### दर्शन और विज्ञान

भारतीय दर्शन ने प्रति जितनी है, उसमें कहीं अधिक विज्ञान के प्रति है। यहाँ युद्ध पारण या ऐसी गामान्यत मानव का आकर्षण मदा वाली दृष्टि दोनों मानव नहीं पहुँचने के मार्ग है। दर्शन ज्ञान शक्ति के द्वारा दर्शन का लक्ष्य नहीं नाठता है, तो विज्ञान प्रयोग शक्ति के दर्शन का लक्ष्य नहीं प्रयास मध्याह्न की उपज है। वह अनन्त मत्य लिने की शक्ति न गम्भीर रूप में गढ़ता नहीं है, क्योंकि वह दृष्टि द्वारा दृष्टि द्वारा रुप में गम्भीर रूप में दिलाना नामी-नामी प्रयोग द्वारा रुप-रूप में दिलाना ही दर्शन के गम्भान जन-जन में दृष्टि द्वारा दृष्टि द्वारा है।



हे। प्रकृति के साथ आत्मा और परमात्मा को भी जानता हे। एक भी वस्तु दर्शन की सीमा के बाहर नहीं रह सकती। ज्ञान-विज्ञान की एवं वुद्धि की जितनी भी शाखाएँ हे वे सभी दर्शन के अन्तर्गत आ जाती हे।

वर्तमान युग के महान् चिन्तक वर्टेंड रसेल लिखते हैं—“विज्ञान के दो प्रयोजन हैं—एक तो यह कि अपने क्षेत्र में जितना जाना जा सके उतना जान लिया जाये और दूसरा यह कि जो कुछ जान लिया गया है उसे कम से कम मामान्य नियमों में गूढ़ लिया जाय।” रसेल के प्रस्तुत कथन में विज्ञान की सीमा को दो भागों से विभक्त किया गया है—प्रथम विभाग में विज्ञान के अध्ययन की सामग्री की ओर सकेत किया गया है और दूसरे विभाग में वुद्धि जन्य अन्य व्यवस्था की ओर।

यह बहुत ही स्पष्ट है कि विज्ञान जितनी भी सामग्री एकत्रित करता है उसका आधार अवलोकन है। अवलोकन के अभाव में वह सामग्री को एकत्रित नहीं कर सकता। दर्शन के समान केवल चिन्तन से विज्ञान का कार्य नहीं हो सकता। वह प्रत्येक प्रयोग को अवलोकन के परीक्षण-प्रस्तर पर रखता है। यदि अन्य शब्दों में कहे तो विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव को महत्व देता है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वस्तु, विज्ञान की दृष्टि से नहीं है। मानव उन्नियों की सहायता से जितना अनुभव करता है, वही विज्ञान ना विषय बनता है। वह आत्म-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष या अन्य जीवी प्र-प्रथमीरण में विद्यास नहीं रखता। विज्ञान का यही प्रयास है कि नुभारे आधार पर जितना ज्ञान प्राप्त हो जाय, उसे वह प्राप्त करना प्रयास करता है। वह अपने अभीष्ट विषय को लद्य में रखकर उसे भोगिता गानों के महयोग से जितना ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उसे लद्य गानों का प्रयास करना है। यह विज्ञान की प्रथम भूमिका है। उसे उद्दिग्नत्व व्यवस्था का प्रारम्भ होता है। उस भूमिका में प्राचीरी जानी है, उसके आधार पर वह निर्णय लेता है। यही प्रयास है। प्रयोग का तर्क नियत्रित अवलोकन है। प्रयोग का तर्क जान जानी है, तो यह गमन लिया जाता है। प्रयोग का तर्क विज्ञान का तर्क है। उस प्रकार विज्ञान के नियमों की विज्ञानी व्यवस्था है।



लिए थ्रेयस्कर हे, वह प्रतिपल-प्रतिक्षण इस विचार पर मन्थन भी करता है और नारे भी लगाता है कि सदा रात्य बोलना चाहिए किन्तु व्यवहार में उसे प्रथम नहीं देता है तो क्या उस दर्शन का मूल्य हो सकता है ? जब तक दर्शन धर्म में परिणत नहीं होगा तब तक वह व्यर्थ है। कितना भी विमल विचार क्यों न हो, जब तक उसके अनुरूप आचरण नहीं होगा, उस विचार की क्या उपयोगिता है ? विना धर्म के दर्शन केवल शब्दों का इन्द्रजाल है। धर्म का सम्बल प्राप्त करके ही दर्शन में दिव्यता आती है।

दर्शन रहित धर्म भी पाखण्ड है। जिग आचरण के मूल में विवेक की जगमगाती ज्योति नहीं है वह आचार अनाचार है। आचार का मूल विचार है। विचार की सुहृद नीव पर ही आचार का भव्य भवन खड़ा हो सकता है। विना विचार का आचार केवल अन्धानुकरण है। उसे यह जात नहीं कि प्रस्तुत क्रिया की जीवन में क्या उपयोगिता है ? उसका क्या लक्ष्य है ? इस प्रकार धर्म को दर्शन की ओर दर्शन को धर्म की मद्दा आवश्यकता रही है। धर्म और दर्शन परस्परापेक्षी तत्त्व है। मानव जीवन की सरिता का एक तट दर्शन है तो दूसरा तट धर्म है। एक के विना दूसरे का अस्तित्व व्यर्थ है। दर्शन ज्ञान की प्रक्रिया है तो धर्म क्रिया की। क्रियाहीन-ज्ञान अथवा ज्ञानहीन-क्रिया दोनों ही जीवन के लिए भयावह हैं, अतः दोनों का मध्युर सम्बन्ध ही जीवन में यथार्थ दृष्टि प्रदान कर गरजता है।

### दर्शन और जीवन

दर्शन का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह एक प्रश्न है। उत्तर में निम्न दोनों फ़िल्म मानव चिन्तनशील प्राणी है। वह निरन्तर चिन्तन करता रहता है। चिन्तन मानव का विशिष्ट गुण है, जिससे मानव दार्शनिक बनता है। फ़िल्म और दर्शन का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। मानव जब तक चिंतन करता रहता तब तक मानव-जीवन में दर्शन का अस्तित्व बना रहेगा। यह फ़िल्म नहीं। फ़िल्म मानव के जीवन में चिन्तन दूर हो जाय। जहाँ पर वह एक दर्शन व्यवश्य ही रहेगा। माराण यह है कि दर्शन के अभ्यन्तर एक ग्राह्यन्य कदापि मम्भव नहीं है। जब हम दार्शनिक दृष्टि करते हैं तो गहरा ही ज्ञान होता है कि मानव-चिन्तन का अन्त उमरा जीवन है। मानव ने सर्वप्रथम अपने जीवन पर



तत्त्व का है। भारतीय दर्शनों में शकर का अद्वैतवाद, नागार्जुन का धून्यवाद, और वसुवन्धु का विज्ञानवाद ये आदर्शवादी दर्शन हैं। जगत की भीतिक सत्ता को ये स्वीकार नहीं करते। अद्वैतवादी दर्शन का स्पष्ट मत्तव्य है कि ब्रह्म के अतिरिक्त इस सारांश में कुछ भी नहीं है। ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। ब्रह्म आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं है। विज्ञानवादी वौद्ध दार्शनिकों का अभिमत है कि इस जीवन और जगत में हम जो कुछ भी देख रहे हैं, वह सब विज्ञान ही विज्ञान है। वौद्ध दर्शन ने इसे आलय-विज्ञान कहा है। नागार्जुन का धून्यवाद तो अद्वैतवाद और विज्ञानवाद से भी एक कदम आगे है, इसे ममझना ही आसान नहीं है। इस आदर्शवादी परम्परा के विरोध में अनेकान्तवादी जैन दर्शन ने आवाज बुलन्द की। सास्त्य-दर्शन, जो प्रकृति-पुरुषवादी है, वैशेषिक दर्शन, जो परमाणुवादी है, न्याय-दर्शन जो उच्चवरवादी है, ये सभी दर्शन यथार्थवादी हैं। इन यथार्थवादी दर्शनों ने आध्यात्मिक सत्ता के साथ जगत की भीतिक मत्ता को भी स्वीकार किया है। जैनदर्शन की हृष्टि से जीव के माथ अजीव भी है, चेतन के साथ अनेतन भी है, आत्मा के साथ पुद्गल भी है। सास्त्य दर्शन का अभिमत है कि यह हृण्यमान जगत प्रकृति और पुरुष का मयोग मात्र है। पुरुष-आत्मा भी मत्ता रे माय प्रकृति-जड़ की मत्ता भी यहाँ पर मानी गई है। वैशेषिक दर्शन परमाणुवादी होने में म्वय ही अनेकवादी सिद्ध हो जाता है और उच्चवरवादी न्यागदर्शन जब उच्चनर में अनन्त मूल्टि की उत्पत्ति मानता है तो उसे यथार्थार्थी ननना ही प्रतीता है।

पारमात्मा दार्यनिक माहित्य का उत्तिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि वह यहाँ भी दार्यनिक पारमगान्धीम ने इगा में पाँच सौ वर्ष पूर्व इस बात से शुरू हो चुकी थी कि ज्ञान और ज्ञेय (ज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाले भौतिक वस्तु) का विवरण भी भेद नहीं है। ज्ञान के अनिस्तिष्ठ ज्ञेय कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अब ये ज्ञेय वस्तु एक है। पाश्चात्य दर्घनों से परमात्मा का एक विवरण दिया गया है। यहके पश्चात् जब हम योक दार्यनिक दर्घनों का विवरण लिया गया है तो युग को पार कर लेटो के युग से लेकर आज तक तीनों दर्घनों ने आध्यात्मिक तत्त्व की गता पर अपनी विवरणों का विवरण दिया है जिसमें शारीरिक वादी न हो गए। लेटो का विवरण दर्घनों की दर्यनिक परमात्माओं द्वारा वस्तु व्यवाख्याता था।







सम्पूर्ण आगम साहित्य अनग-प्रविष्ट है। दूसरे शब्दों में, यो भी कहा जा सकता है कि गणधरों के प्रश्न पर भगवान् ने जो त्रिपदी—उत्पाद, व्यय, और व्यौचय का उपदेश दिया उसके आधार में जिस आगम साहित्य की रचना हुई वह अग-प्रविष्ट है और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरो ने जो रचना की वह अनग-प्रविष्ट है।

आगमों में मुख्य स्थान द्वादशांगी का है। वह स्वत प्रमाण है और शेष आगम परत प्रमाण है अर्थात् द्वादशांगी से जो अविरुद्ध है वे प्रमाण हैं और शेष अप्रमाण हैं।

अनग-प्रविष्ट आगम को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। कितने ही स्थविरो के द्वारा रचित हैं और कितने ही निर्यूढ़ हैं। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गये हैं, वे निर्यूढ़ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचाराग का दूसरा श्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ़ आगम हैं। आर्य शश्यम्भव ने अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक का निर्यूहण किया था। शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत केवली भद्रवाहु हैं। प्रजापना के रचयिता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य रक्षित और नन्दी के देव वाचक हैं।

भापा की दृष्टि में आगम साहित्य को दो युगों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम युग ₹० पू० ८०० में ₹० १०० तक का। इस समय जिन आगमों की रचना हुई उन आगमों की भापा अर्द्ध-मागधी है। द्वितीय युग ₹० १० में २०० तक का है, उस समय रचित या निर्यूढ़ आगमों की भापा जैगागर्दी पारत है।



वर्तमान मे आगम के जो सस्करण उपलब्ध हे वे प्रत्युत रूप मे देव-द्विगणी क्षमाश्रमण के समय के है। उसके पूर्व आगम-साहित्य लिपिवद्ध नहीं किया गया था। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी मे वारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ, उसके पश्चात् पाटलीपुत्र मे आगम वाचना हुई। 'आगम सकलन' का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य हुआ। उस समय दो वाचनाएँ हुई—एक मथुरा मे और दूसरी वल्लभी मे। मथुरा मे जो वाचना हुई थी वह आर्य ग्रन्तिव के नेतृत्व मे हुई थी और वल्लभी मे जो वाचना हुई वह आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे हुई। वे वाचनाएँ माथुरी वाचना और वल्लभी वाचना के नाम से विश्रुत है। इन तीन वाचनाओं मे आगम लिखे नहीं गये थे। आगम लिखने का कार्य वीर निर्वाण के ६८० वर्ष के पश्चात् देवद्विगणी क्षमा-श्रमण के नेतृत्व मे वल्लभी मे हुआ। उस समय तक वहुत मे श्रमण दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयो से काल-कवलित हो गये। वहुत सारा श्रुत विस्मृत हो गया था, अत जो कण्ठरथ था, उसे मुना गया। आगमो के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति मे उसका सकलन किया, सम्पादन किया और पुस्तकारूढ़ किया।

आगमो का जो वर्तमान रूप है वह देवद्विगणी के समय का सकलित है। उन्होंने अग और अगवाह्य दोनों का सकलन और सम्पादन किया। इस निए व आगमो के वर्तमान रूप के कर्ता भी माने जाते हैं।



टीकाओं में दार्शनिक दृष्टि का विशेष उपयोग किया गया है। आचार्य मलयगिरि की टीकाओं में भी वही वात है। उन्होंने भी यत्र-तत्र दार्शनिक चर्चाएँ की हैं।

आगम साहित्य ज्ञान विज्ञान का अक्षय कोप है तथापि उसमें दार्शनिक दृष्टि उत्तमी प्रभुत्व नहीं रही है जितनी आगमेतर माहित्य में रही है। इसका मूल कारण यह है कि आगम साहित्य मुख्य रूप से साधकों के लिए है। साधकों को उद्वोधन देने के लिए अनेक ग्रथलो पर पुनरावृत्तियाँ भी हुई हैं। दार्शनिक विषयों का निरूपण वाद के माहित्य में विशेष रूप में हुआ है।

तत्त्वार्थ मूत्र आचार्य उमास्वाति की एक महत्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्मणाम्ब्र आदि अनेक विषयों पर उसमें मुन्दरतम निरूपण है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ मूत्र पर एक भाष्य भी लिखा था। छठी शताब्दी में हुए दिग्म्बर आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ पर मर्वार्थसिद्धि नामक सक्षिप्त टीका लियी थी। अकलक व विद्यानन्द ने क्रमशः राजवार्तिक व इलोकवार्तिक की रचना की। ये दोनों भी दिग्म्बर आचार्य थे। इनकी टीकाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इंगेन के प्रत्येक विषय को उन्होंने म्पर्ण किया है। वेताम्बर पण्डितों के मिद्रमेन और हरिभद्र ने भी बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों की रचना की। उन टीकाओं का निर्माण आठवीं-नींवी शताब्दी में हुआ। दैन शर्मनिक प्रगानि की प्रकल्प उन टीकाओं में स्पष्ट रूप में देखी जा



वाद एवं मायावाद के समक्ष जैन परम्परा का अनेकान्तवाद एवं रथाद्वाद ही खड़ा हो सकता हे और उसी आधार गे हम प्रतिवादियों का प्रतिवाद कर अपनी रक्षा कर सकते हे। उसी आधार गे उसको अनेकान्त रथापतयुग या अनेकान्तवादी युग कहा हे।

### प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था युग

तर्क-शास्त्र के नियम के अनुसार प्रमेय की रिद्धि प्रमाण के द्वारा ही हो सकती है। सरकृत साहित्य मे और विशेष रूप मे उस प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था युग मे "मानाधीना मेयसिद्धि" यह एक प्रसिद्ध नारा था, अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधार पर ही की जा सकती है। उस युग मे जैन परम्परा के सभी आचार्यों का ध्यान अनेकान्त से हटकर प्रमाणशास्त्र पर चला गया।

भारतीय दर्शनशारत्र के उत्तिहास मे दिट्ठाग के तार्किक विचार ने एवं उसके दार्ढनिक विवेचन ने प्रमाणशारत्र और न्याय-शास्त्र को नूतन प्रेरणा प्रदान की। दिट्ठाग वीढ़ि परम्परा मे प्रमाणशास्त्र का पिता मान जाता है। वह प्रवल प्रतिभासम्पन्न, तार्किक एवं प्रमाणशारत्र का प्रयत्न द्यात्याता था। दिट्ठाग ने जिस प्रमाण शारत्र को जन्म दिया उसके पालन-पालन करने का दायित्व धर्मकीर्ति पर आ गया। दिट्ठाग की प्रतिभा उत्तिहास मे ही दार्ढनिक थोत्र मे नड़ी हलचल मच गई, जिसके कल्पवर्ण-दिट्ठ-परम्परा मे भी उस युग के तार्किकों ने प्रमाणशास्त्र पर विशेष वल दिया। राजकापुरम्परा मे व्योमशिव, जयन्त, उद्योतकर, कुमारिल जैसे मेधावी नारी नामों आये। यह गमग आठवीं-नौवीं शताब्दी का था। उस समय मे दिट्ठाग मे प्रोग्राम आनाय हुए। उनमे आनार्ग हरिभद्र और अकला इन्द्र नामों निया पर श्व-रचित 'अनेकान्तजयपताका' 'शारद्यवार्ता' इन्द्रिय नाम 'दर्शन गम्भीर्य' मे प्रमाणशास्त्र पर एवं उसकी विकास-प्रवल-प्रतिभासम्पन्न गिरिय रूप गे निन्नन प्रगतुत किया। अकलक ने 'प्रमाण-प्रवल-प्रतिभास-प्रगति' इन्द्रिय नाम 'रसीयश्वरी' आदि ग्रन्थों मे प्रमाणशास्त्र-प्रवल-प्रतिभास-प्रगति का परिमार्जन बहुत ही व्यावरित्यन रूप मे दिया। उसके अन्दर भी 'प्रान्त-मीमांसा' पर अकलक कृत जैन 'प्रमाणशास्त्री' नियाम जैन परम्परा के प्रमाणशास्त्र-



सम्पन्न दार्शनिक भी उस प्रभाव से किस प्रकार बच सकते थे। उन पर भी उस नवीन-न्याय शैली का अपट्ट प्रभाव पड़ा। विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी के अन्त तक जैनदर्शन में प्राचीन परम्परा और प्राचीन शैली में ही न्याय ग्रन्थों की रचनाएँ होती रही। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उपाध्याय यजोविजय जी ने नवीन न्याय शैली में न्याय-ग्रन्थों का प्रणयन किया। अनेकान्त-व्यवरथा नामक ग्रन्थ नव्य न्याय शैली में लिखकर अनेकान्तवाद को पुन प्रतिष्ठित किया। प्रमाणशास्त्र पर 'जैन तर्क भाषा' और 'ज्ञानविन्दु' लिखकर जैन परम्परा के गीरव में चार चाँद लगाये। नयवाद पर, नय-प्रदीप, नय-रहरय, और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिये। नयोपदेश पर 'नयामृत-तरगणी' नामक रवोपन्न वृत्ति लिखी। अष्ट-सहस्री पर विवरण भी लिखा। आचार्य हरिभद्र रचित गास्त्रवार्ता समुच्चय पर 'स्याद्वादकल्पलता' नामक टीका लिखी। भाषा-रहरय, प्रमाण-रहरय, वाद-रहरय, आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय खण्डखात्र, और न्यायालोक लिखकर नूतन शैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का निरसन भी किया।

यजोविजयजी के अतिरिक्त यशस्वनसागर और विमलदास ने नव्य न्याय जैनी में ग्रन्थों की रचना की।



### आगमयुगीन जैनदर्शन

आगम माहित्य मे दार्थनिक तत्त्वो का निम्पण किस प्रकार हुआ हे ? इस प्रश्न का सही समाधान तभी प्राप्त हो सकता हे जब हमारी दृष्टि विशाल एवं ऐतिहासिक होगी । जैसे वेदकालीन दर्शन की अपेक्षा उपनिषद्-कालीन दर्शन प्रीढ़तर है और गीताकालीन दर्शन प्रीढ़तम है, वैसे ही जैन-दर्शन के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता हे । आगमकालीन दर्शन की अपेक्षा आगम-व्याख्या माहित्य मे जैनदर्शन प्रीढ़तर हो गया है और तत्त्वार्थगूत्र मे पहुँच कर प्रीढ़तम । अब हमे देखना है कि आगम माहित्य मे और उसके व्याख्या माहित्य मे जैनदर्शन का प्रागमिभक स्पष्ट क्या और किम स्पष्ट मे था ?

आगमकालीन दर्शन को दो भागो मे विभक्त कर सकते है—प्रमेय और प्रमाण अथवा जेय और ज्ञान । जहाँ तक प्रमेय अथवा जेय का प्रश्न है, जैन आगम माहित्य मे यत्र-तत्र अनेकान्त दृष्टि, सप्तभगी, नय, निकेप, द्रव्य, गुण, पर्याय, पदार्थ, धेत्र, काल एवं भाव, निश्चय और व्यवहार, निमित्त और उपादान, नियति और पुरुषार्थ, कर्म और उसका फल, आचार और योग आदि विषयो पर विवरा हुआ वर्णन मिलता है । जहाँ तक प्रमाण और ज्ञान का विषय है, उसके सम्बन्ध मे धेत्रे मे उतना कह सकते है कि ज्ञान और उसके भेद-प्रभेदो का विरतार मे निष्पण आगम साहित्य मे है । ज्ञान और उसका ऐसा कोई भी भेद नहीं है जिसका उल्लेख आगम और व्याख्या माहित्य मे न आया हो । प्रमाण के सम्बन्ध मे प्राचीन न्याय पद्धति “प्रमाण त मनि भेद और उपभेदो का वर्णन भी आगमो मे उपलब्ध है । जैसे—प्रमाण, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद । अनुमान और तत्त्व, मनि तम, उपमान और एन्द्र प्रमाण के भेद भी मिलते है । नय ते



उस स्वर्ण के फल में बताया गया कि भगवान् महावीर चित्र-विचित्र सिद्धान्त (ग्रन्थ-पर सिद्धान्त) को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश करेंगे। उसके पश्चात् जैन दार्शनिकों ने चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर ब्रीढ़ और न्याय-वैशेषिक के सामने अनेकान्त को भिन्न किया। ग्रन्थ में देखे हुए एम्स्कोकिल की पात्रों को चित्र-विचित्र कहने का थीर आगमों को विचित्र विशेषण देने का यही अभिप्राय जात होता है कि उनका उपदेश एकरणी न होकर अनेकरणी था—अनेकान्तवादी था। भगवान् महावीर में जब कोई प्रश्न करता तब वे उसका उत्तर अनेकान्त दृष्टि में देते थे। मूल कृतान्त में भगवान् में प्रश्न किया गया—‘भगवान् ! भिन्न को कौसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए ?’ उत्तर में भगवान् ने कहा—‘विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए।’ विभज्यवाद का सही तात्पर्य क्या है, उसे समझने के लिए जैन ध्यान्या साहित्य के अतिरिक्त ब्रीढ़ ग्रन्थ भी उपयोगी है।

मजिस्ट्रेज निकाय में शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर में तथागत बुद्ध ने कहा—‘हे माणवक ! मैं विभज्यवादी हूँ, एकाणवादी नहीं। इसका अर्थ यह हूँ त्रिकोणीयता के विभज्यवाद और अनेकान्तवाद को तथागत बुद्ध ने भी न्वीकार किया। वग्रतुत किसी भी प्रश्न के उत्तर देने की अनेकान्तात्मक पद्धति विभज्यवाद है। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के मम्बन्ध में उतना ज्ञानने के पश्चात् रूपाद्वाद के मम्बन्ध में समझना आवश्यक है। रूपाद्वाद या प्रयोग कथन रखने की एक विशिष्ट पद्धति। जब अनेकान्तात्मक वस्तु के त्रिमी प्रयोग भर्त्ता उत्तेज अभीष्ट हो तब अन्य धर्मों के भरक्षण के लिए ‘रूपा’ जैसे या प्रयोग किया जाता है तो वह कथन रूपाद्वाद कहलाता है। रूपाद्वाद निरानन्दवाद भगवान् महावीर की प्रोत्तिज्ञा न ज्ञन ज्ञानवाना है।



हुआ है। प्रमाण और ज्ञान किसी भी वर्गतु के ज्ञानने में साधन है। प्रमाण की अपेक्षा आगमों में ज्ञान का वर्णन विगतार में आया है। पञ्चज्ञान की चर्चा भगवान् महावीर में पूर्व भी थी, ऐसा राजप्रणीति में ज्ञात होता है। आगम साहित्य में ज्ञान के भेदों और उपभेदों का वर्णन किया गया है। कर्म-यात्रा में ज्ञानावरणीय कर्म के जो भेद और उपभेद निरूपित किये गये हैं जीव-मार्गणाथों में पाँच ज्ञानों का जो वर्णन है और पूर्व साहित्य में ज्ञान का न्यतत्र निरूपण करने वाला ज्ञान प्रवाद पूर्ण है, इन सभी में यही स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर में पूर्व भी पच ज्ञानों का वर्णन था। आगम साहित्य के आधार में ज्ञान की तीन भूमिकाएँ बनती हैं—पहली भूमिका वह है जिसमें ज्ञान के पाँच भेद बताए गए हैं। द्वितीय भूमिका वह है जिसमें पाँच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष उन दो भागों में विभक्त कर मति और श्रृत को परोक्ष में और अवधि, मन पर्यंत, और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष में माना है। तीसरी भूमिका वह है जिसमें इन्द्रिय जन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष, उभय स्पष्ट में स्थान दिया है।

ज्ञान चर्चा की उन तीनों आगमिक भूमिकाओं की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि उनमें ज्ञान-चर्चा के माथ अन्यान्य दर्शनों में प्रचलित प्रमाण-चर्चा का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध या सम्बन्ध स्थापित नहीं गिया है। आगमार्ग ने उन ज्ञानों में सम्बन्ध और मिश्यात्म का भेद कर दर्शिया दिया है जो अन्य दर्शन वाले प्रमाण और अप्रमाण के विभाग द्वारा ज्ञाना जाहिर है। प्रमाण और अप्रमाण जैसे विशेषण न ढेकर प्रथम तीनों में अग्रान-प्रार्थ्य-मिश्यात्म और सम्बन्ध की सभावना मानी जाए तो उनमें ज्ञानों को एकान्त सम्बन्धयुक्त बताया है। उस प्रकार तीन ज्ञानों को प्रमाण और अप्रमाण न कहकर उन विशेषणों का प्रयोगन करके उनमें विभाग गिया है।



कर्म-शास्त्र पर सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने 'गोमटगार' का कर्म-काण्ड, देवेन्द्रमूरि ने कर्मग्रन्थ आदि लिंगे। आचार शास्त्र में मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत, धर्म विन्दु-प्रकरण, योग शास्त्र, रत्न-करण-थावकाचार, वमुनन्दी-थावकाचार, पण्डित आणानर का सागार धर्मामृत आदि हैं। वाचक उमारवानि का तत्त्वार्थगूढ़, उमकी टीकाएँ-उपटीकाएँ, नेमिचन्द्र रा द्रव्य गग्ह, आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनगार, समयगार, नियमगार, पचारितकायगार आदि तत्त्व-विचार विपर्यक ग्रन्थ हैं। आचार्य हरिभद्र के 'योगविशिका, योग-गतक, योग-हठि ममुच्चय' योगविन्दु प्रकरण, ये उस युग की प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। इस युग के आचार्य ने तत्त्व पर मुख्य म्प गे नियमा ।







भगवान् ने समाधान दिया—रोह । लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेगे—अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेगे । दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं । इनमें पीर्वापर्यं नहीं है ।<sup>१</sup>

### लोक क्या है ?

जहाँ हम रहते हैं वह लोक है, लोक अलोक के विना नहीं हो सकता इसलिए अलोक भी है । अलोक के बल आकाश है । धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य का वहाँ पर अभाव है । लोक वह है, जहाँ पर इन छहों द्रव्यों की सहस्थिति होती है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पचास्ति-कायों का जो सहावस्थान है वह लोक है ।<sup>२</sup> उत्तराध्ययन में सक्षेप की दृष्टि से जीव और अजीव की सहस्थिति को लोक कहा है ।<sup>३</sup>

लोक और अलोक का विभाग नया नहीं किन्तु शाश्वत है और उनके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत है । यह एक तथ्य है कि कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का कभी विभाजन नहीं हो सकता । छहों द्रव्य शाश्वतिक हैं । आकाश का विभाजन होता है अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता । काल परिणमन का हेतु है । हम लिख चुके हैं कि काल के दो विभाग हैं नैश्चर्यिक और व्यावहारिक । नैश्चर्यिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है । जो लोक और अलोक दोनों में है । व्यावहारिक काल मूर्यं और चन्द्र की गतिश्रिया से होने वाला समय का विभाग है जो मनुष्य लोक के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता । जीव और पुद्गल ये दोनों गतिशील हैं और मध्यम पर्याम याने हैं । नोर्म-अलोक जी सीमा निर्धारण करने वाले स्थिर और विश्वास तना हैं धर्माभिराय और अधर्मस्तिकाय । ये अखण्ड आकाश को दो भागों में विभाजित करते हैं । ये जहाँ तना है वहाँ तक लोक है, और जहाँ पर विश्वास रभाये जाते हैं वह अनोक है । धर्म और अधर्म के अभाव में गति और विश्वास रभाय ॥ नरों मिलती उमलिए जीव और पुद्गल लोक में ही है, ॥२॥



अधोलोक तीन विभाग किये उनकी भी विभिन्न आकृतिया बनती हैं। धर्माग्निकाय, अधर्मारितकाय कही पर फैली हुई है और कही पर मंकुचित है। ऊर्ध्वलोक में धर्म, अधर्म विस्तृत होते चले गये हैं। उगतिए उसका आकार ऊर्ध्वमुख मृदग के समान है। मध्यलोक में वे कृश हैं उमलिए उसका आकार विना किनारी बाली आलर के समान है। नीचे की ओर फिर वे विस्तृत स्प में व्यात हैं अत अधोलोक का आकार ओधे किये हुये शरव के भट्टा बनता है। अलोकाकाश में दूसरे द्रव्य का अभाव होने से उसके कोई आकृति नहीं है। लोकाकाश की मोटाई मात्र रज्जू की है।

लोक की मोटाई को समझाने के लिए भगवान महावीर ने मा की भाषा में कहा—एक देव मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़ा है—जो ए लाय योजन की ऊँचाई पर है। नीचे चारों दिशाओं में दिक्-कुमारिकाएं हामे वलिपित्र नेकर वहिर्मुखी रहकर उम वलिपित्र को एक साथ फेंकती हैं। उ गमय वह देवता दीड़ता है। चारों वलिपित्रों को पृथ्वी पर गिरने से पूर्व वह हाथ में ले नेता है। उसे शीघ्रगति कहते हैं। उम शीघ्रगति से छह लोक का अन्त नेने के लिए पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची और नी उन छह दिशाओं में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हज वर्ष की आयुवाला पुत्र पैदा हुआ, उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके पश्च इजार वर्ष की आयु बाले उसके बेटे पोते हुए। उस प्रकार मात्र पीढ़ि ग्रन्तीन हो गई। उसके नाम-गोत्र भी मिट गये, तथापि देवता नलते छिन्नु नोह ता अन्त प्राप्त न कर सके। यह ठीक है कि उन्होंने अधिक पार निकाला है, जो भाग योग रहा वह असर्वात्मा भाग है। उससे यह है कि नोह छिनना बना है।



और लान्तक कल्पो के देव, देवियों की मुन्दरता को ही देखकर अपनी वासना की पूर्ति करते हैं। महायुक, सहस्रार कल्पो के देव गिर्फ़ देवियों का मधुर गान सुनकर ही अपनी वासना को तूत करते हैं। आनत प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो के देवगण मात्र देवियों को गमरण करके ही अपनी कामेच्छा को शान्त करते हैं। ऐप देव काम वासना में रहित होते हैं। लीकान्तिक देव भी विपय-रति से रहित होने के कारण देवपि कहलाते हैं।

### मध्य-लोक

मध्य लोक १८०० योजन प्रमाण है। उत्तराध्ययन में मध्य लोक को तियंक लोक भी कहा है।<sup>१</sup> इस लोक में थमख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को ढंगे हुए हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अद्वाई-द्वीपों में ही मानव का निवास माना गया है।<sup>२</sup> अद्वाई-द्वीप को समय क्षेत्र भी कहा गया है।<sup>३</sup> उन अद्वाई-द्वीपों की रचना एक मट्टी है, अन्तर इतना ही है कि उनका क्षेत्र क्रमशः दुगुना-दुगुना हो जाता है। पुष्कर-द्वीप के मध्य में मानुषीनग पर्वत आ जाने में आधा पुष्कर द्वीप ही मनुष्य क्षेत्र में गिना गया है। जम्बू-द्वीप में भात प्रमुख क्षेत्र है—भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, रम्यवत और ऐरावत।<sup>४</sup> विदेह क्षेत्र में दो अन्य प्रमुख भाग हैं। जिनके नाम हैं—देवकुरु और उत्तरकुरु। धातकी घण्ड और पुष्करार्ध-द्वीप में इन गर्भी धोंगों की दुगुनी-दुगुनी मस्त्या है। ये सभी क्षेत्र कर्मभूमि, अकर्मभूमि, और प्रनग्नद्वीप के भेद में तीन भागों में विभक्त हैं।<sup>५</sup>

उत्तर मानव रूपि, वाणिज्य, शिल्पकला आदि के द्वारा जीवनयापन करते वे क्षेत्र कर्मभूमि हैं। यहाँ का मनुष्य मर्वोत्कृष्ट पुण्य और मर्वोत्कृष्ट दाता भर मज्जाते। भग्न, ऐगवत और महाविदेह उसीमी भीमा में आते हैं।<sup>६</sup> इनमें भरत, ऐगवत, एक महाविदेह, धातकी घण्ड में दो<sup>७</sup>, दो गारा तथा दो महाविदेह तथा पुष्करार्ध द्वीप में दो भरत, दो

<sup>१</sup> दृष्टि १८०, १८  
२३८ प्राचीनग्रन्थ संक्षेप।

<sup>२</sup> गाव ग्रन्थ ३१३७

<sup>३</sup> दृष्टि १८०, १८  
४३८ प्राचीनग्रन्थ संक्षेप। —तत्त्वां ग्रन्थ ३१३०



इसी प्रकार मध्यलोक डतना विशाल है तथापि ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की अपेक्षा इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

### अधोलोक

मध्यलोक के नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है। इसमें क्रमशः नीचे-नीचे सात पृथिवियाँ हैं जो सात नरकों के नाम से विश्रुत हैं। इनमें मुख्य स्तर से नारक जीव रहते हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक-सी नहीं है। नीचे-नीचे की भूमियाँ ऊपर-ऊपर की भूमियों से अधिक लम्बी-चौड़ी हैं। ये भूमियाँ एक दूसरे से नीचे हैं। परन्तु एक दूसरे में सटी हुई नहीं हैं। वीच-वीच में बहुत अन्तर है, इस अन्तराल में घनोदधि, घनवात, और आकाश है।<sup>१</sup> प्रत्येक पृथ्वी के नीचे क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है।<sup>२</sup> अधोलोक की सात भूमियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, वालुका प्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा। इनके नाम के साथ जो प्रभा शब्द जुड़ा हुआ है वह इनके रूप को व्यक्त करता है। रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड हैं। सब से ऊपर का प्रथम खरकाण्ड है जो रत्न बहुल है। उसकी ऊपर से नीचे तां की मोटाई १६००० योजन है। उसके नीचे दूसरा काण्ड पक बहुल है उसकी मोटाई ८८,००० योजन है। उसके नीचे का तृतीय काण्ड जल बहुल है उसकी मोटाई ८०,००० योजन है। उस प्रकार तीनों काण्डों की मोटाई चार मिट्टाई जाए तो गन्नप्रभा की मोटाई—१,८००० योजन होती है। गमगी पूरी में नैकर मानवी पृथ्वी तक उस प्रकार के काण्ड नहीं हैं। उनमें तीनों पराये तो भी ममान हैं। दूसरी नरक की मोटाई १,३२०००, तीसरी गमगी नरक की मोटाई १,२८००० योजन है। चतुर्थ नरक की मोटाई १,२०,१०० योजन है। पांचवीं नरक की मोटाई १,१८००० योजन है। छठा चौथी मोटाई १,१८००० योजन है और सातवीं की १०८,००० योजन

<sup>१</sup> २५०, २४५, २४०, २३५, २३०, २२५, २२०, २१५, २१०, २०५, २००, १९५, १९०, १८५, १८०, १७५, १७०, १६५, १६०, १५५, १५०, १४५, १४०, १३५, १३०, १२५, १२०, ११५, ११०, १०५, १००, ९५, ९०, ८५, ८०, ७५, ७०, ६५, ६०, ५५, ५०, ४५, ४०, ३५, ३०, २५, २०, १५, १०, ५, ०

<sup>२</sup> २५०, २४५, २४०, २३५, २३०, २२५, २२०, २१५, २१०, २०५, २००, १९५, १९०, १८५, १८०, १७५, १७०, १६५, १६०, १५५, १५०, १४५, १४०, १३५, १३०, १२५, १२०, ११५, ११०, १०५, १००, ९५, ९०, ८५, ८०, ७५, ७०, ६५, ६०, ५५, ५०, ४५, ४०, ३५, ३०, २५, २०, १५, १०, ५, ०



### लोक-स्थिति

वृहदारण्यक उपनिषद् मे एक सम्बाद है। गार्गी ने लोक-स्थिति के सम्बन्ध मे याज्ञवल्क्य के सामने जिजासा प्रतुत की—यह विश्व जल मे ओत-प्रोत है। परन्तु जल किसमे ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—वायु मे।

गार्गी—वायु किसमे ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—अन्तरिक्ष मे, अन्तरिक्ष गंधर्व-लोक मे, गंधर्व-लोक आदित्य-लोक मे, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक मे, चन्द्र-लोक नक्षत्र लोक मे, नक्षत्र लोक देव-लोक मे, देव-लोक इन्द्र-लोक मे, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक मे और प्रजापति-लोक ब्रह्मलोक मे ओत-प्रोत है।

गार्गी—ब्रह्मलोक किसमे ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—गार्गी! यह अति प्रश्न है तू उस प्रकार के प्रश्न मत कर नहीं तो तेरा सिर कटकर गिर पड़ेगा।<sup>१</sup>

जैन माहित्य मे उस प्रकार की वात नहीं है। भगवान महावीर मे जो भी प्रथन पूछा गया, उनका उन्होने स्पष्ट उत्तर दिया है परन्तु कही पर भी उम प्रकार का भय नहीं वताया है।

भगवती मूर्ति मे लोक की स्थिति कितने प्रकार की है, उस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा—गीतम्<sup>२</sup>। लोक-स्थिति आठ प्रकार की है।<sup>३</sup>

१ वायु आकाश पर ठहरी हुई है।

२ गमुद्र वायु पर ठहरा हुआ है।

३ पृथ्वी गमुद्र पर ठहरी हुई है।

४ गम-प्रयात जीव पृथ्वी पर ठहरे हुए है।

५ अग्नी जीव के आविन है।

६ गर्भ-जीव कमे ने आविन है।

७ नीर-रीतो द्वारा गमदीन है।

८ रीत-रम्भ गमदीन है।

९ गर्भ-जीव आकाश, वायु, जल और पृथ्वी गे जार अग

१० गर्भ-जीव नात मे विश्व की यह गम्भीर व्यवस्था निमित



चैतन्य की उत्पत्ति मानी गई है, तो चैतन्याद्वैतवाद में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार अद्वैतवादी धार्यनिक चेतन और अचेतन का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते अपितु अचेतन या चेतन में मैं किसी एक के अस्तित्व को वाग्तविक मानते हैं।

द्वैतवादी दर्जन जड़ और चैतन्य उन दोनों का न्यूनतम् अस्तित्व मानता है। उसका यह गपण मन्तव्य है कि जड़ में चैतन्य और चैतन्य में जड़ की उत्पत्ति नहीं होती। कारण के अनुस्पष्ट ही कार्य उत्पन्न होता है। उस दृष्टि में जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम मृष्टि है।

न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन और मीमांसकदर्शन का मन्तव्य है कि मृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को मयुक्त करता है। उन्होंने संयोग का आरम्भ होने पर ही मृष्टि होती है, इसलिए ये दर्शन आरम्भ-वादी कहलाते हैं।

मायदर्शन और योगदर्शन का मन्तव्य है कि मृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। जब प्रकृति थुद्ध होती है तब त्रिगुण का विकास होता है। उसमें मृष्टि का निर्माण होता है। अनीश्वरवादी सास्य परिणाम को प्रदृढ़िति का न्यभाव मानते हैं। गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणामवाद ये दो स्पष्ट परिणामवाद के हैं। गुण-परिणामवाद साम्यदर्शन और मद्यानार्थ मानते हैं और ब्रह्म-परिणामवाद रामानुजाचार्य मानते हैं। वे प्राची, जीर्ण और उद्धरण ये तीनों तत्त्व मानते हैं, तथापि भभी को ब्रह्मस्पष्ट गीर्णार नहीं है। ब्रह्म ही अण विशेष में प्रकृति स्पष्ट में परिणत होकर आए दर्शता है।

“... और वीददर्शन मृष्टिनाद को नहीं मानते हैं। वह तो परिवर्तन-दर्शन है।

वीददर्शन में परिवर्तन की प्रगति प्रक्रिया ‘प्रतीत्य समुत्पादवाद’ क्या है? यह अद्वैतकवाद है। उसमें कारण में कार्य ऐसा प्रवाह में पदायं उत्पन्न होता है।

“... अद्वैत धर्म में जो एक भी परिवर्तन दिग्बार्द्ध में निर्माण हो गया तो यसमें संयोग में होता है। वह पार-



भेदवादी किसी भी पदार्थ मे अन्वय नहीं मानता। वह प्रतिपल-प्रतिक्षण विविध तत्त्व और विविध ज्ञान की सत्ता मे विश्वास करता है। उसका मन्तव्य है कि भेद के अतिरिक्त कोई भी तत्त्व निर्दोष नहीं है। जहाँ पर भेद है वही पर वास्तविकता है। भारतीय दर्शन मे वैभाषिक और सौत्रान्तिक इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं। वे क्षण-भगवाद को अन्तिम सत्य स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। हर क्षण पदार्थ उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है, कोई भी चिरस्थायी नहीं है। जहाँ पर स्थायित्व नहीं वहाँ पर अभेद किस प्रकार हो सकता है? ज्ञान भी क्षणिक है और पदार्थ भी क्षणिक है। जिमे हम आत्मा कहते हैं वह विज्ञान, वेदना, सज्जा, स्त्कार और रूप इन पाँच रक्त्वों का समुदाय है<sup>१</sup> जो वाह्य पदार्थ है वह क्षणिक परमाणु-पञ्ज है। प्रस्तुत समुदायवाद को बीद्वदर्शन मे नघातवाद भी कहा है। विभिन्न निरश तत्वों का समुदाय सधात है। आत्मा नाम का कोई भी अखण्ड और स्थायी द्रव्य नहीं है। इसे अनात्मवाद या पृदगलनैरात्म्य भी कहा है। वाह्य पदार्थ क्षणिक और निरश परमाणुओं का एक समुदाय है इसे धर्मनैरात्म्य के नाम से भी अभिहित किया गया है। यह कथन देश की अपेक्षा से है। इसी प्रकार काल की दृष्टि से 'सन्तान-वाद' का ममर्यन करते हैं। चित्त और परमाणु की सन्तति को निहार कर यह 'यह वही है' इस प्रकार कहते हैं, वस्तुत यह अलग और वह अलग है। यह यही है और यह वही है। जब सभी क्षणिक हैं तो यह वह नहीं हो सकता। रमाग जितना भी व्यवहार है वह सभी सघातवाद और मन्तान-वाद दर आगिया है। देशीग एकता का बोध सघातवाद से होता है 'तेरामारा पारा' या परिज्ञान सन्तानवाद से होता है। अभेद या अन्वय 'मारुति' है। वस्तुत प्रत्येक ज्ञान और पदार्थ निरश और भिन्न हैं। 'उत्तर रात्रि' आगिया कुछ भी नहीं है। मन्तान-परम्परा से कुछ वस्तुत एकता या एकता दरमे एकता का आरोप करते हैं परन्तु वे सभी 'तेरामारा पारा' से विकृत भिन्न हैं। परिवर्तन इतना शीघ्र 'तेरामारा पारा' या 'पारा' की धान्वि ग्वाभाविक हो जाती है। 'तेरामारा पारा' इतना है और वह पक विन्दु पर ही राता



दूसरा मत अभेदवाद का है। उसका यह रपट आधोप है कि भेद मिथ्या है। एकत्व का मूल्य है, अनेकस्तप्ता का कोई मूल्य नहीं है। हमारे अज्ञान के कारण ही भेद की प्रतीति होती है किन्तु ज्ञानियों की प्रतीति सदा अभेद मूलक होती है। अभेद ही वरतुत तत्त्व है, भेद तत्त्व नहीं है। इस विचारधारा का समर्थन उपनिषद् और वेदान्त के कुछ विचारक करते हैं। अभेदवादी एक ही तत्त्व मानता है चूंकि अभेद की अन्तिम सीमा एकत्व है। जहाँ पर दो हैं वहाँ पर अपूर्णता है। अद्वैत वेदान्त एक तत्त्व में विश्वास करता है। विज्ञानवाद और शून्यवाद की अन्तिम भूमिका में इसी विचारधारा को हम देख सकते हैं।

पाठ्यात्य परम्परा में अभेदवाद का प्रवर्तक पार्मनिडीस माना जाता है। उसकी स्पष्ट विचारधारा यही कि परिवर्तन वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह परिवर्तित हो जाता है। जो परिवर्तित होता है वह कदापि वास्तविक और सत्य नहीं हो सकता। जो इन परिवर्तनों के बीच सदा ध्रुव रहता है, वही सत्य है। जो परिवर्तित होता रहता है वह असत् है और जो परिवर्तित नहीं होता है वह मत् है। जो मत् है वह सदा वास्तविक है, जो असत् है वह वास्तविक नहीं है। जो मत् है वह सदा विद्यमान है वह उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि मत् पैदा होता है तो वह असत् से पैदा होगा किन्तु असत् में मन् पैदा नहीं हो सकता।<sup>१</sup> यदि मत् मत् से उत्पन्न होता है तो वह उत्पन्न नहीं हो सकता त्वंकि वह स्वयं मत् है। उत्पन्न वह होता है जो स्वयं मत् न हो। जो मन् नहीं है वह उत्पन्न नहीं हो सकता। एतदर्थं जो वास्तविक मन् नहीं मन् हो। जो मत् है उगमे किसी भी प्रकार के भेद का प्रश्न ही नहीं, वह तभी होती है। यह प्रकार पार्मनिडीस अभेदवाद की सिद्धि है। योग भेद को इन्द्रियगत्य भ्रान्ति मानता है। जितने भी भेद हों उनमें से उनमें सूता सूता गारण इन्द्रिया है। पार्मनिडीस ने जो कारण भेद हों वह यहाँ वर्णित करके पूछा है आधार से अभेद की



प्रधानता रहती है। भेद स्वतन्त्र न होकर अभेद पर अवलम्बित होता है। भेद, अभेद के आश्रित होकर जीता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भेद और अभेद को भिन्न मानने वाला मत दोनों को स्वतन्त्र रूप से सत् मानता है। उसकी इष्टि में अभेद की प्रधानता है।

जैनदर्शन की इष्टि बड़ी विलक्षण है। वह भेद और अभेद दोनों को समान रूप से सत् मानता है। जैसे भेद वास्तविक है वैसे अभेद भी वास्तविक है। तात्त्विक इष्टि से दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। भेद और अभेद ये दोनों इस प्रकार परस्पर सम्मिलित हैं कि एक के अभाव में दूसरे की उपलब्धि नहीं हो सकती। जहाँ पर भेद है वहाँ पर अभेद है और जहाँ पर अभेद है वहाँ पर भेद है। भेद और अभेद किसी सम्बन्ध विशेष से सम्मिलित हो ऐसी बात नहीं है। वे तो स्वभाव से ही एक-दूसरे से मिले हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वभावत सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक नित्यानित्यात्मक है। जो सत् है वह भेदाभेदात्मक है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। वस्तु या तत्त्व को भेदात्मक कहना उचित नहीं है, चूंकि कोई भी भेद अभेद के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। अभेद को मिथ्या और कल्पना कहना पर्याप्त नहीं है। वह किसी प्रमाण से जब तक मिथ्या मिलने हो जाय। प्रमाण बिना अनुभव के नहीं होता और अनुभव अभेद के मिथ्या मिलने ही करता। एकान्त अभेद को मानना भी इसी प्रकार उचित नहीं है चूंकि जो दोष एकान्त भेद में है वही दोष एकान्त अभेद में भी है भेद और अभेद ये दो स्वतन्त्र पदार्थ मानना उचित नहीं है, चूंकि भेद और अभेद सामान्य रूप से उपलब्धि नहीं होते, उन्हें जोड़ने वाला अपराह्न भी नहीं है। ऐसी मिथ्यि में नग्न स्वयं भेदाभेदात्मक है, ऐसा मानना उचित है। और आनिरुद्ध मृष्टि है, कथचिन् विमृष्टि है, कथचित् वाच्य। उचित मानना, अविनिरुद्ध मृष्टि है, कथचिन् असन् है।<sup>१</sup> ये मध्यी धर्मों में, उनका मध्यन्य कहीं वाहूर से नहीं है। वस्तु अपराह्न और विशेष, मिथ्य और अभिन्न, एक और अनेक, नियन्त्रित और अनियन्त्रित की भी यद्यपि मान्यता थी। वह वस्तु को अपराह्न एवं अनियन्त्रित मानना था। उनका मन्तव्य या कि कोई

<sup>१</sup> द्वारा विषय मृष्टि, विशेष,

द्वारा विशेष, मिथ्या और अभिन्न, एक और अनेक, नियन्त्रित और अनियन्त्रित की भी यद्यपि मान्यता थी। वह वस्तु को अपराह्न एवं अनियन्त्रित मानना था। उनका मन्तव्य या कि कोई



के भी असत्यात प्रदेश है। धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव उन चारों के असत्यात प्रदेश ममान है। काल के न प्रदेश है और न परमाणु ही है। प्रदेशों का अभाव होने गे काल को अस्तिकाय में नहीं गिना है। उसे द्रव्य की कोटि में उसलिए रखा गया है कि वह द्रव्य के समान उपयोगी है। व्यवहार का प्रवर्तन करता है। आचार्यों ने काल के नैश्चयिक और व्यावहारिक ये दो भेद किये हैं। पचारितकाय में जो वर्तमान रूप परिणमन है वह नैश्चयिक दृष्टि से है। ज्योतिष की गति के आधार से जो परिवर्तन होता है वह व्यावहारिक दृष्टि से है। दूसरे शब्दों में इसे यो कह सकते हैं कि वर्तमान का एक समय नैश्चयिक है, भूत और भविष्य का जो कथन है वह व्यावहारिक है। जो समय चला गया है वह आने वाला नहीं है और भविष्य में आने वाला समय अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उसलिए भूतकाल और भविष्यकाल ये दोनों ही अविद्यमान हैं। इसलिए वे व्यावहारिक और ओपचारिक हैं। समय, मुहूर्त, दिन-रात आदि सभी भेद व्यावहारिक कान की दृष्टि में हैं। आकाश का कात्पनिक खण्ड दिग् कहलाता है, दिग् वर्तन्त्र पदार्थ नहीं है।

वर्तमान, भूत और भविष्य उन दोनों का सकलन करता है। भूत और भविष्य का महत्त्व वर्तमान में है। किसी भी वस्तु का जब हम अस्तित्व श्वीकार करते हैं तब हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह वस्तु पूर्व में भी यी ओर पश्चात् भी रहेगी। वह वस्तु हमेशा एक ही अवस्था में रहती, गिरा रही नियम नहीं है। विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने वाली उसी मानिक स्थिति और शक्ति में कभी भी किञ्चित् भी विनाश नहीं होता। इसकी परिभाषा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है “जो विद्या विद्या रामायामा रो प्राप्त हुआ, तो रहा है और होगा वह द्रव्य है।” इसका अर्थ यह है कि विद्या रामायामा की प्राप्त हुआ, तो रहा है और होगा वह द्रव्य है। इसका अर्थ यह है कि विद्या रामायामा द्वारा प्राप्त हुआ तो रहा है और विनाश होने पर भी जो सदा ध्रुवी अभाव म पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का यो गति रामायामा जो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों द्वारा द्वय है। जो द्रव्य वह गत है। इसका अर्थ यह है कि विद्या रामायामा कहा—गत उन्नाद व्यय और इसकी परिभाषा लिखने हुए लिखा—



अनित्य है किन्तु परिणामी-नित्य है। मत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन में भी उम्मका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार का अभाव हो तो 'यह वही है' का अनुभव कैसे हो सकता है। यदि द्रव्य निर्विकारी है तो विश्व की विविधता किस प्रकार सगत हो सकेगी। एतदर्यं जैनदर्शन ने परिणामीनित्यत्व का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से प्रस्तुत मिद्दान्त की तुलना की जा सकती है।

सन् १७८८ में द्रव्याक्षरत्ववाद की सम्प्राप्ति लेवोसियर (Lavoisier) नामक मुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने की थी। इस सिद्धान्त का स्फेप में माराश पह है कि इस विराट् विश्व में द्रव्य का परिणाम नदा सर्वदा समान रहता है उसमें न्यूनता व अधिकता नहीं होती। न वर्तमान द्रव्य का पूर्ण रूप में नान होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण रूप में जिसे द्रव्य का नष्ट होना माना जाता है, वह नष्ट नहीं होता किन्तु ह्यान्तर होता है। जैसे कोयला जलने पर राख हो जाता है, वह कोयला न्यूने नष्ट हो गया, किन्तु वस्तुत वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल में आँखीजन अण के गाथ मिलकर कावर्णनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अकर्तु या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते अपितु जो ठोन ये द्रव्य रूप में परिणत हो जाते हैं। नवीन वस्तु कोई भी उत्पन्न नहीं जाती। इन्हुंनी पूर्व वस्तु का ह्यान्तर हो जाता है। आपके घर में लोहे का गोंड रान पदा हआ है। दीर्घकाल तक उसका उपयोग नहीं करने वे लोहे रूपमें तग तग गया है। जग कोई नया उत्पन्न नहीं हुआ। इन्हीं द्रव्यों का हिमा जल और वायुमण्डल के आँखीजन के मयोग में है। आँखीजन रूप में बदल गया। पदार्थों के गुणात्मक अन्तर वार गरिमाणा-भास अन्तर में परिवर्तित कर देता है। शरीर की इटि रूपी गोंड परिवर्तन नहीं होना किन्तु गुण की इटि में परि वर्तन होता है। वारमान, चूम्बकीय आकर्षण में न्यूनता नहीं आरी है। जैनदर्शन इन्हें है। जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय और वस्तुता के बीच विवरित है। जिस द्रव्य का नाश गमजा जाता है पर वह वस्तुता की इटि होता है। वस्तुत अर्थात् में जितने ही भरिए में और जितने बर्दमान में है उनने ही भरिए में











समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खड़े हुए हैं। आस्तिक-दर्शनों में से प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार तत्त्व-मीमांसा और तत्त्व-विचार स्थिर किया है। भौतिकवादी चारकिदर्शन ने भी तत्त्व स्वीकार किये हैं। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्त्व मानता है<sup>१</sup>, आकाश को नहीं। चूंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है। वैशेषिकदर्शन में मूल छह तत्त्व माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, कालान्तर में उनके साथ 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ भी जोड़ दिया गया है। इस तरह सात पदार्थ हैं। न्यायदर्शन ने सोलह पदार्थ माने हैं, वे ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, मण्य, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्फ, निर्णय, वाद, जर्प, वितण्डा, हेत्वाभास, द्वय, जाति और निग्रहस्थान। सार्यदर्शन ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये हैं। वे ये हैं—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पच महाभूत और पुरुष। योगदर्शन साम्यसम्मत तत्त्वों को ही स्वीकार करता है। मीमांसा-दर्शन वेदविहित कर्म को सत् और तत्त्व मानता है। वेदान्त दर्शन एकमात्र ऋग्य को सत् मानता है और शेष सभी को असत् मानता है। वीदवर्णन ने चार आर्य गत्य स्वीकार किये हैं—(?) दुर्ख, (२) दुर्गमुदय (३) दुर्ग-निरोध, (४) दुख-निरोध-मार्ग। जैनदर्शन में तत्त्व की अवगम्य दो प्रारम्भ से की गई है—पट्टद्रव्य स्पष्ट में तथा सप्त-तत्त्व या नव प्रारम्भ में रूप में। (द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ उन तीनों का एक ही अर्थ है।)

### तत्त्व की परिभाषा

जैनदर्शन में विभिन्न शब्दों पर और विभिन्न प्रमगों पर भत्, मत्, मत्य, भद्र, भद्र, परायं और द्रव्य—उन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है। ये शब्द एक दुमरे के पर्यायवाची रहे हैं। आनायं निर्वाक-गुण में तत्त्वाद्यं, मन् और द्रव्य शब्द का प्रयोग जैनदर्शन में जो तत्त्व है वह मन् है और जो द्रव्य शब्द में अन्तर है, भावों में कोई अन्तर नहीं। द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य उन दोनों का ही प्रयोग है, विस्तार है।



सत्या नी वताई गई है किन्तु स्थानाङ्ग<sup>१</sup> आदि मे दो राशि का भी उल्लेख है—जीव-राशि, और अजीव-राशि। आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने द्रव्यसग्रह ग्रन्थ मे इसी आधार पर तत्त्व के दो भेद किये है—जीव और अजीव। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे पुण्य और पाप तत्त्व को आस्त्रव या वन्धु तत्त्व मे समावेश कर तत्त्वों की सत्या सात मानी है।<sup>२</sup> आचार्य मलय-गिरि ने भी प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे उन्ही का अनुसरण किया है।<sup>३</sup>

### तत्त्वों का क्रम

प्रश्न उद्भूत होता है कि नव तत्त्वों मे सर्व प्रथम जीव को ही क्यों स्थान दिया गया है? उत्तर है कि उक्त तत्त्वों मे ज्ञाता, पुद्गल का उपभोक्ता, शुभ और अशुभ कर्म का कर्ता तथा ससार और मोक्ष के लिए योग्य प्रवृत्ति का विधाता जीव ही है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का उपयोग क्या रहेगा? एतदर्थ ही नव तत्त्वों मे जीव तत्त्व की प्रमुखता होने से उसे प्रथम स्थान दिया गया है। जीव की गति मे, अवस्थिति मे, अवगाहना मे और उपभोग आदि मे उपकारक अजीव तत्त्व है, अत जीव के पश्चात् अजीव का उल्लेख है। जीव और पुद्गल का मयोग ही ससार है। उस ससार के आस्त्रव और वन्धु ये दो कारण हैं अत अजीव के पश्चात् आस्त्रव और वन्धु को स्थान दिया है। भसारी आत्मा को पुण्य से सुख का वेदन और पाप से दुःख का वेदन होता है, उस दृष्टि से पुण्य और पाप का स्थान कितने ही ग्रन्थों मे आगर और वन्धु के पूर्व रसा गया है और कितने ही ग्रन्थों मे उसके बाद म रसा गया है। जीव और पुद्गल का वियोग मोक्ष है। सबर और निर्जरा एवं मोक्ष का दारण है। कर्म की पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष होता है अत एवं, निर्जरा और मोक्ष यह क्रम रखा गया है। कितने ही ग्रन्थों मे सबर, निर्जरा, एवं और मोक्ष यह क्रम है।

### मदोप और विरतार

<sup>१</sup> जीव की याप्रा को देयकर ही आचार्य किमी तत्त्व का मध्येष  
<sup>२</sup> एवं रसा। यदि तिगामु कुणाप्रवृद्धि है तो तत्त्व का प्रतिपादन



### अध्यात्म दृष्टि से वर्गीकरण

अध्यात्म दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार के हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय जो जानने योग्य है वह ज्ञेय है, जो छोड़ने योग्य है वह हेय है, जो ग्रहण करने योग्य है वह उपादेय है। जीव और अजीव ये दोनों ज्ञेय हैं। जो साधक अध्यात्म भाव की साधना करता है उस साधक के लिए जीव और अजीव इन दोनों का ज्ञान आवश्यक है। यदि वह जीव और अजीव को नहीं समझता तो सर्वम को कैसे समझेगा? साधक के लिए बन्ध स्पर्श ससार हेय है और मोक्ष उपादेय है। इसलिए मोक्ष के कारण सब और निर्जन भी उपादेय हैं और ससार के कारण आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध हेय हैं। यहाँ पर पुण्य के सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियमत ससार का कारण नहीं होता। छद्मस्थ अवस्था में रत्नत्रय धर्म के साथ पुण्य का अविनाभावी सम्बन्ध है। नीचे की भूमिका में प्रगस्त राग अर्थात् अपने से विशिष्ट गुण प्रधान निर्ग्रन्थ मुनियों, अस्तित्व देव और उनकी वाणी का अवलम्बन रहता है अतः धर्मानुराग होता है।

#### प्राकृत भाषा में—

नवतत्त्व बालावबोध—हर्षवंधन गणि

नपतत्त्व बालावबोध—श्री पार्श्वचन्द्र

नवनत्त्व बालावबोध—(कुलक)

#### पुजगारी भाषा में—

रामराम—श्री ऋषभदास

" " श्री भवगागर

" " श्री सोमाय्य गुन्दर

रामराम—श्री विजयदान सूरि

रामराम—श्री भागविजय जी

" " विजय जी

" " वर्मन शंकर

" " श्री सोमाय्य गुन्दर

" " श्री रंगान मुरी

" " श्री शृष्ट मुरी

" " श्री धनदेव। शिखार गय से उन गभी के नाम म



### द्रव्य और भाव

किसी भी वस्तु के स्वरूप को समझने की दृष्टि से उमे द्रव्य और भाव रूप दो भागो मे विभक्त किया जाता है। द्रव्य का अर्थ वस्तु का मूल स्वरूप है और भाव का अर्थ है उसकी पर्याय विशेष। द्रव्य और भाव का एक अन्य दृष्टि से भी अर्थ करते हैं, वह इस प्रकार है—द्रव्य का अर्थ पौद्गलिक वस्तु और भाव का अर्थ है आत्मिक परिणाम। द्रव्य और भाव की दृष्टि से नव तत्वो को इस प्रकार धटाते हैं—

द्रव्य जीव क्या है? अनादिकालीन जीवरूप अखण्ड तत्त्व। भाव जीव क्या है? जीव के प्रतिपल-प्रतिक्षण होने वाले विविध परिणाम अर्थात् पर्याय। इसी तरह अनादिकालीन धर्म, अधर्म, आकाश, आदि द्रव्य वजीव हैं और उसकी पर्याय भाव-अजीव है। द्रव्य पुण्य है युभ कर्म के पुद्गल और भाव पुण्य है—पुण्य वन्ध के कारणभूत आत्मा के दान रूप आदि युभ परिणाम। द्रव्य पाप है अग्रुभ कर्म के पुद्गल, भाव पाप है पाप वन्ध के कारणभूत आत्मा के परपीडन रूप अग्रुभ परिणाम। द्रव्य आन्वव है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय और योग के निमित्त से कर्म पुद्गलो का आन्ववण। भाव आन्वव है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय और योग हा आत्मा का परिणाम। द्रव्य भवर है—आन्वव का निरोध करने के लिए किं जाने वाले व्रत, समिति, गुप्ति के आचरण से पुद्गल रूप द्रव्य कर्मो का निरोध। भाव भवर है—आन्वव का निरोध करने वाले आत्मा के युद्ध परिणाम। द्रव्य निजंरा है—विपाक, तप के द्वारा बद्ध कर्मो का अग्निरथ्य होना। भाव निजंरा है, निजंरा करने वाले आत्मा के युद्ध परिणाम। द्रव्य वन्ध है—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध, भाव वर्त है न भा या राग-द्वेष एव परिणाम। द्रव्य मोक्ष है—बद्ध कर्म का सर्वथा शय्या। भाव मोक्ष?—आत्मा का अपने युद्ध, बुद्ध, निरञ्जन और निर्विकार एवं एव परमा करना। □



- औपनिषद् विचारधारा  
प्रतिविष्वयाद  
व्यवच्छेदवाद  
ब्रह्मजीपवाद
- आत्मा का परिमाण
- जीव का लक्षण
- जीव के दो प्रकार
- शरीर और आत्मा
- विद्यारों का शरीर पर प्रभाव
- गायमा और शरीर का सम्बन्ध
- आपूर्विक विज्ञान और वात्मा
- जेन्ना का पूर्वान्प क्या है ?
- वर्ग इंट्रियों और मस्तिष्क वात्मा है ?
- गायमा के अमर्यान प्रदेश
- गायमा पर वंजानिकों के विचार
- गायमा के मस्तिष्क
- गायमा विभाग
- गायमा विभाग



वन चैतन्य का भूतो मे से उत्थित होकर उममे विनीन होने का निर्देश है और साथ ही 'न प्रेत्यसज्जाऽरित' भी कहा है।<sup>१</sup> भूतचैतन्यवाद परक प्रमुख उल्लेख केवल जैन-साहित्य<sup>२</sup> मे ही नही है अपितु जयन्त जैसे समर्थ नेया पिको ने भी इसका चार्वाकि के स्प मे निर्देश किया है।<sup>३</sup> मूत्रकृताङ्ग मे ऐसे मत का उल्लेख किया गया है जिसका यह मन्तव्य था कि पाँच भूतो मे जीव पैदा होता है।<sup>४</sup> दीवनिकाय मे अजितकेशकम्बली के मत का वर्णन जो यह मानता था कि चार भूतो मे से पुरुष उत्पन्न होता है।<sup>५</sup> इससे स्पष्ट है कि उम समय एक ऐसा मत भी था जो चैतन्य या जीव को म भूतो का परिणाम या कार्य मानता था। अत इस मत को लोकाण कह कर उसके प्रति गर्ही व्यक्त की गई।

जैसे चार या पाँच भूतों के मध्यात् से चैतन्य की उत्पत्ति मानने वाले 'चैतन्यवादी' मत का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है वैसे ही उस मत में मिलता-जुलता 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का भी उल्लेख मिलता है उपनिषद् साहित्य में 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का उल्लेख शब्द स्पष्ट में नहीं हुआ है पर मूलकृतान्<sup>१</sup> विशेषावश्यक भाष्य<sup>२</sup> एव मज्जमनिकाय<sup>३</sup> वार्ता में हुआ है।

पणित सुखलाल जी आदि विद्वानों का अभिमत है “भूतचंतन्यवाद और नज़ीब तच्छ्वरीरवाद ये दोनों मत पृथक्-पृथक् होने चाहिए। उन्हीं गणि वे किसी भी अर्थ में भिन्न नहीं होने तो उन्हें प्राचीनकाल में इन दोनों

- १ वृत्तारप्पांगनिष्ठ २४४१२  
 २ विजेयामर्मा मात्य गा० १७५३  
 ३ वृत्तामगरी—विजयनमर्म् गिरीज गृ० ४६२  
 ४ वृत्तामगरी २१११५—  
 ५ वृत्तामगरी—गामचनाकतमुन  
 ६ ) वृत्तामगरी—गामचनाकतमुन  
 ७ वृत्तामगरी—विजयनमर्म् गिरीज गृ० ४६२

—मृत्युतात् ॥  
परिमाण पवस्त्रमूर्द्धा नि आहिए ।

३० गाँवीं निर्वाचनी तिथि



किये। उसने मरने वालों से भी कहा कि तुम यहाँ से मरकर जहाँ पर जाओ वहाँ मेरा आकर पुनः हमें समाचार देना। जब कोई भी उन्हें समाचार देने नहीं आए तो उसे यह निष्ठा हो गई कि शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। उसने प्रयोग करके भी देखा कि शरीर से पृथक् आत्मा है या नहीं? किसी को पेटी में बन्द करके देखा कि जीव किस प्रकार वाहर निकलता है, परं पेटी में किसी भी प्रकार का छेद नहीं हुआ, मुद्रे का वजन कम नहीं हुआ। प्रत्येक शरीर के अङ्गोपाङ्ग का छेदन करके भी देखा पर आत्मा के दर्शन उसे नहीं हुए। एक युवक अनेक बाण एक साथ चला सकता है परं वालक नहीं चला सकता, अत शक्ति आत्मा की नहीं, अपितु शरीर की है, अत शरीर के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।<sup>१</sup>

राजा प्रदेशी के इन परीक्षणों से वह युक्तियों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतों का विषय भानकर उसकी अन्वेषणा कर रहा था। उसके दादा भी इसी विचारधारा के थे। इस वात का समर्थन उन निषदों में भी होता है, वहाँ परं आत्मा को अन्नमय कहा है।<sup>२</sup>

छान्दोग्योपनिषद में एक कथा है कि अमुरों में वैरोचन के अन्तर्मानमें और देवों में इन्द्र के अन्तर्मानसमें आत्म-विज्ञान की जिज्ञासा जापत हुई। वे दोनों प्रजापति के पास पहुँचे और अपने हृदय की वात उन्होंने मामने प्रश्ननुत की। प्रजापति ने पानी के एक पात्र में मुँह दिखाते हुए पूछा—तुम्हें यमसे क्या दिखाई देता है? दोनों ने एक स्वर से कहा—हमारा गम्भीर शरीर उसमें दिखाई दे रहा है।

प्रजापति ने कहा—वही आत्मा है। वैरोचन को वह वात जैन गोंद उन्होंने यम वात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है।<sup>३</sup>

### प्राणमय-आत्मा

इन्द्र गों उसमें गमाधान नहीं हुआ, वे आत्मा के सम्बन्ध में गहरा ज्ञान नहीं लगे दीये। इन्द्र ही नहीं अन्य चिन्तकों के मन में भी यह ज्ञान लोगा उसमें गम्भव है उस समय उनका ध्यान प्राणशक्ति का होगा और उन्हें यह अनुभव हुआ होगा कि तीव्र।



पड़ा हुआ हो तो भी मन इधर मे उधर घूमता रहता है अत इन्द्रियों आगे मन को आत्मा माना गया। पण्डित दलमुख मालवणिया<sup>१</sup> का असिमत है कि पहले प्राणमय आत्मा की कल्पना की गई, उसके पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई। इन्द्रियों थीर प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन भौतिक है या अभौतिक, इस सम्बन्ध मे विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। किंतु ही दार्थनिकों ने मन को अभौतिक माना है। न्याय<sup>२</sup>-वैज्ञापिक<sup>३</sup> मन को अणु रूप मानते हैं, और पृथ्वी आदि भूतों मे उसको विलक्षण मानते हैं। सास्यदर्शन मानता है कि भूतों की उत्पत्ति होने से पहले ही प्राकृतिक अंकार मे मन उत्पन्न होता है। एतदर्थ वह भूतों की अपेक्षा भूक्तम है। वैभापिक वौद्धों ने पुनः मन को विज्ञान का समानान्तर कारण माना है इसलिए मन विज्ञान रूप है।

न्यायदर्शनकार<sup>४</sup> ने मन को आत्मा माना है। उसका तर्क है कि जिन कारणों से आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है उनसे वह मनोमय ही मिद्ध होती है। मन सर्वग्राही है। सभी इन्द्रियाँ जिन विषयों को ग्रहण करती हैं उन सभी विषयों को मन ग्रहण करता है। इसलिए मन को आत्मा मानना चाहिए। मन से पृथक आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

तीनिरोय उपनिषद् मे 'अन्योन्तरात्मा मनोमय'<sup>५</sup> कहा है अर्थात् मन द्वी आत्मा है।

वृहदारण्यक मे 'मन क्या है?' इस प्रश्न पर विविध दृष्टियों ने चिन्मन किया है।<sup>६</sup> वहाँ पर मन को परम व्रक्ष सम्राट् भी कहा है।<sup>७</sup> मन द्वी आन्दोग्योरनिषद् मे व्रक्ष कहा है।<sup>८</sup> तेजोविन्दु उपनिषद् मे तो यहाँ तर-

<sup>१</sup> दलमुख मालवणिया पृ. १७

पृष्ठ २१२।

<sup>२</sup> दलमुख पृ. २१२।

<sup>३</sup> दलमुख पृ. २१२। विज्ञान यदि तमन् ।

<sup>४</sup> दलमुख पृ. २१२।

<sup>५</sup> दलमुख पृ. २१२।

<sup>६</sup> दलमुख पृ. २१२।

<sup>७</sup> दलमुख पृ. २१२।

<sup>८</sup> दलमुख पृ. २१२।

—अग्निमन्त्रकोण ॥१॥



यह स्मरण रखना चाहिए कि कोपीतकी उपनिषद् में समरत इन्द्रियाँ और मन को प्रज्ञा में प्रतिष्ठित किया गया। जैसे मानव सुरात या मृतावस्था में होता है उस समय इन्द्रियाँ प्राणस्प प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं अत उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। जब मानव नीद में जागता है या फिर से जन्म लेता है तब जैसे चिनगारी में अग्नि प्रकट होती है वैसे ही प्रज्ञा से इन्द्रियाँ बाहर आती हैं<sup>१</sup> और मानव को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अण के सदृश हैं,<sup>२</sup> अत प्रज्ञा के अभाव में वह कार्य नहीं कर सकती।<sup>३</sup> अत इन्द्रियाँ और मन में भिन्न प्रजात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

कठोपनिषद्<sup>४</sup> में एक के पश्चात् द्वितीय श्रेष्ठतर तत्त्वों की परिणाम की गई है। वहाँ पर मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त-प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्च माना गया। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं है अपितु अचेतन प्रकृति की भी धर्म है। उस मत को देखते हुए विज्ञानात्मा की शोध पूर्ण होने पर आत्म पूर्णत चेतन रवस्था है यह सिद्ध हो गया। उसके पश्चात् आनन्द की पर काष्ठा आत्मा में है इसलिए आनन्दात्मा की भी कल्पना की गई।

### चिदात्मा

चिन्तकों ने आत्मा के सम्बन्ध में अन्वय आत्मा से लेकर आनन्द आत्मा तक जो चिन्तन प्रस्तुत किया उसमें आत्मा के विविध आवरणों<sup>५</sup> आत्मा गमना गया छिन्तु आत्मा के मूलस्वरूप की ओर उनकी दृष्टि तर्फ़। चिन्तन ने नगण आगे बढ़े, जोध हुई, तब चिन्तकों ने कहा—अतम एवं जिस आगे भी कहा जाता है, रथ के समान है। उसे चानाने वाले ने आगरीत आत्मा है।<sup>६</sup> आत्मा के अभाव में जरीर बुद्ध भी नहीं। एवं ॥। आगीर का गचानक आत्मा है। जरीर और आत्मा ये दो



ज्ञान का जानने वाला है।<sup>१</sup> वही द्रष्टा है, श्रोता है, मनन करने वाला है, वही विज्ञाता है।<sup>२</sup> वह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्वप्रकाशरूप है, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है।<sup>३</sup>

पहले चिन्तकों ने भोतिक-तत्त्व को आत्मा माना और उसके पश्चात् उन्होंने अभीतिक आत्मतत्त्व को रखीकार किया। यह अभीतिक आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था, उसके सम्बन्ध में अब गहराई से चिन्तन होना आवश्यक था। हम देखते हैं कि नचिकेता आत्मतत्त्व को जानने के लिये अत्यधिक उत्सुक है। उसे जानने के लिए रवर्ग के रगीन मनमोहक सुखों को भी तिलाङ्गजलि दे देता है।<sup>४</sup> मैत्रेयी आत्म-विद्या को जानने के लिए पति की विराट् सम्पत्ति को भी ठुकरा देती है।<sup>५</sup> यात्-वल्लय कहता है कि पति-पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सभी वस्तुएँ आत्मा के निमित्त से हैं अतः आत्मा को देखना चाहिए, उसी का चिन्तन-मनन करना चाहिए।<sup>६</sup>

उग प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जिन विविध विचारों का विकास हुआ उमका सकलन उपनिषद् साहित्य में हुआ है। उपनिषदों की रचना वे पृथ्वी अवैदिक परम्परा भारत में विद्यमान थी और वह बहुत ही विकसित अवर्गों में थी। इतिहासवेत्ताओं का अभिमत है कि वैदिक परम्परा ने अवैदिक जो थ्रमण परम्परा भारत में थी, उससे आध्यात्मिक-मार्ग कं गहण किया। पर उस ममय का थ्रमण परम्परा का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। धन उग पर गमीक्षात्मक-दृष्टि से चिन्तन नहीं किया ज



(४) जिस प्रकार आकाश अमूर्त है तथापि वह अवगाहन गुण जाना जाता है, उसी प्रकार जीव अमूर्त है तथापि वह विज्ञान गुण से जाता है।

(५) जैसे काल अनादि है, अविनाशी है। वैसे जीव भी अनादि अविनाशी है।

(६) जैसे पृथ्वी सभी वस्तुओं का आधार है, वैसे जीव ज्ञान, दर्शन आदि का आधार है।

(७) जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल है वैही जीव तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल है।

(८) जैसे सुवर्ण के हार, मुकुट, कुण्डल, अङ्गूठी प्रभृति अनेक वनते हैं तथापि वह सुवर्ण ही रहता है केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। वैसे ही चारों गतियों व चाँचली लक्ष जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव की पर्याये परिवर्तित होती है, रूप और नाम बदलते हैं किन्तु जीव इच्छा हमेणा वना रहता है।

(९) जैसे दिन में सहस्ररश्मि सूर्य यहाँ पर प्रकाश करता है तब दिव्यनाई देता है। रात्रि में वह अन्य क्षेत्र में चला जाता है, तब उसमें प्रकाश दिव्यनाई नहीं देता है। वैसे ही वर्तमान शरीर में रहा हुआ जीव दिव्यनाई देना है और उसे छोटकर दूसरे शरीर में चला जाता है तब वह दिग्नाई नहीं देना है।

(१०) रेग, गाम्भीरी, कमल, केतकी आदि की सुगन्ध का रूप नेत्रों में नहीं दिग्नाई देना पर व्याणि ने द्वारा उसका ग्रहण होता है वैसे ही जीव ने 'इत्याग' नहीं नहीं पर भी उसका ग्रहण ज्ञान गुण के द्वारा होता है।

(११) गाय यवों ने शब्द मने जाने के लिए —— मा दिग्नाई



(१) जैन-दृष्टि से जीव अनादि-निधन और चेतनलूप है वैसे ही सास्थ्य-योग पुरुष तत्त्व को मानता है।<sup>१</sup>

(२) जैन-दृष्टि से जीव देह-परिमित है, सकोच-विस्तारशील है और द्रव्य-दृष्टि से परिणामिनित्य है। किन्तु सास्थ्य-योग चेतनतत्त्व को कूटस्थ-नित्य और व्यापक मानता है अर्थात् चेतनतत्त्व में किसी भी प्रकार का सकोच-विस्तार या द्रव्यदृष्टि से परिणामित्य नहीं मानता।

(३) जैन-दृष्टि से प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न-भिन्न है और अनती जीव है। सास्थ्ययोग परम्परा भी इसी वात को स्वीकार करती है।<sup>२</sup>

(४) जैन-दृष्टि से जीवतत्त्व में कर्तृत्व-भोवतृत्व वास्तविक है अत वह उसमें शुद्धता-अशुद्धता के रूप में गुणों की न्यूनता या वृद्धि या परिणाम स्वीकार करती है। जबकि सास्थ्य-योग-परम्परा वैसा नहीं मानती। वह चेतन में कर्तृत्व-भोवतृत्व या गुण-गुणिभाव या धर्म-धर्मिभाव स्वीकार न करने के कारण किसी भी प्रकार के गुण या धर्म का सद्भाव अथवा परिणाम स्वीकार नहीं करती।<sup>३</sup>

(५) जैन-दृष्टि में शुभाशुभ विचार या अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप गिरने वाले स्तकारों को धारण करने वाला जीवतत्त्व मानकर उसमें पाम एक पीदगलिक सूक्ष्म-शरीर मानता है। वही शरीर एक जन्म में हुगरे जन्म में जीवतत्त्व को ले जाने का माध्यम है। वैसे ही सास्थ्य-योग परम्परा में श्वय चेतन अपरिणामी, अलिप्त, कर्तृत्व-भोवतृत्व रहित, और गारा मानने पर भी उसका पुनर्जन्म सिद्ध करने के लिए प्रतिपुरुष एवं एवं मुमर्गीर भी कठपना की है। जैन-दृष्टि के समान वह सूक्ष्म शरीर तथा जीवन-जड़ि स्पष्ट परिणाम वाला है। साथ ही वह देह-परिमाप तथा गारण यह है कि महज चेतना-शक्ति तथा भी धर्म, गण या तत्त्वान् जैन-दृष्टि सम्मत जीवतत्त्व में



न मातकर साख्य-योगदर्शन के सदृश सर्वव्यापी मानता है।<sup>१</sup> मध्यमपर्माण या संकोच-विस्तारशीलता न मानने से साख्य-योगदर्शन के समान द्रव्यदृष्टि से जीव को कूटस्थनित्य<sup>२</sup> मानता है। तथापि न्याय-वैशेषिक-दर्शन गुण-गुण या धर्म-धर्मभाव के सम्बन्ध में साख्य-योगदर्शन से पृथक् होकर कुछ अशो में जैनदर्शन के साथ साम्य रखता है। साख्य-योगदर्शन चेतना को निरश और किसी भी प्रकार के गुण या धर्म के सम्बन्ध से रहित मानते हैं तो न्याय-वैशेषिकदर्शन जीवतत्त्व को जैनदर्शन के समान अनेक गुणों या धर्मों का आश्रय मानता है।<sup>३</sup> ऐसा होने के बावजूद भी वह जैनदर्शन के चिन्तन से भी भिन्न तो पड़ता ही है। जैनदर्शन ने जीव को अनेक शक्तियों का पुञ्ज माना है, किन्तु न्याय-वैशेषिक-दर्शन जीवतत्त्व में ऐसी कोई चेतना शक्ति स्वीकार नहीं करता तथापि उसमें ज्ञान, मुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि गुण मानता है। इन गुणों का सम्बन्ध शरीर के अस्तित्व तक रहता है। ये पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। न्याय-वैशेषिकदर्शन ने जिन गुणों की परिकल्पना की है वे गुण जैनदर्शन के आत्म-गुणों के साथ मिलते-जुलते हैं। तथापि दोनों ही दर्शनों में मौलिक अन्तर यह है कि जैनदर्शन मुक्त अवस्था में भी जीव में सहज चेतना, आनन्द, वीर्य, ज्ञान आदि गुण मानता है, जबकि न्याय-वैशेषिकदर्शन के अभिमतानुसार जीवतत्त्व में विदेहमुक्ति के समय वैसे किसी शुद्ध या अशुद्ध, क्षणिक या स्थायी ज्ञान आदि गुण का सद्भाव ही नहीं है। नंदि वह मूल में ही जीवद्रव्य में साहजिक चेतना आदि शक्तियाँ नहीं मानता।



न्याय-वैशेषिक दर्शन के मन्तव्यानुसार जीवतत्व में कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी भिन्न प्रकार का है। वह जीव को कूटस्थनित्य मानता है अत सहज-रूप से किसी भी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व घटाया नहीं जा सकता। तथापि उन्होंने कर्तृत्व-भोक्तृत्व गुणों के उत्पाद-विनाश के लेकर घटाया है। उसका रूपष्ट मन्तव्य है जब ज्ञान, उच्छ्वा, प्रयत्न, आदि गुण होते हैं तब जीव कर्ता और भोक्ता है परन्तु इन गुणों का सर्वग अभाव होने पर मुक्ति-दशा में किसी भी प्रकार का साक्षात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन जैनदर्शन की भाँति जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानने पर भी जीवतत्व को कूटस्थनित्य घटा सकता क्योंकि उसके विचारानुसार गुण जीवतत्व स्वप्न आधार से सर्वथा भिन्न हैं एतदर्थं गुणों का उत्पाद-विनाश होता हो, तब भी गुण-गुणी की भेदभाव के कारण वह अपनी हृषिट से कूटस्थनित्यता घटा लेता है। साथ्य-गोदर्जन ने ज्ञेतन में किसी भी प्रकार के गुणों का अस्तित्व ही स्वीकार न किया है। जहाँ पर अन्य द्रव्य के सम्बन्ध में परिवर्तन या अवस्थान्तर प्रगत उपरिथत हुआ वहाँ पर उसने उपचरित और काल्पनिक माना, न्याय-वैशेषिकदर्शन ने कूटस्थनित्यत्व को अपनी हृषिट से घटित किय उसने द्रव्य में गुण माना है, वे गुण उत्पदिष्णु (उत्पत्तिशील) और विनश्च भी हो तो भी उनके कारण उनके आधार द्रव्य में किसी भी प्रकार का वा विक परिवर्तन या अवस्थान्तर नहीं होता। उसका तर्क यह है कि आधार या भी हृषिट में गुण निरकृत ही अलग है, इसलिए उसका उत्पाद-विनश्च भी भाव जीवद्रव्य का उत्पाद विनाश नहीं है, और न अवस्थान्तर है। इस प्रकार मार्ग-गोगदर्शन ने और न्याय-वैशेषिकदर्शन ने अपनी प्रकार मृदगनियन्त्रण पठागा है जिन्हें जीवद्रव्य के सम्बन्ध में कूट

हृषिट ममान न्याय-वैशेषिकदर्शन यह मानता है कि उसका विनाश उन्होंने भी जीवद्रव्य में ममकार गिरते हैं। उन्होंने याता भानि गुदम-अरीर जैनदर्शन ने माना था कि उनके परमाण स्वप्न मन माना है। जीव व्यापक हो। उनका वर्णन परमाण स्वप्न जीव के मात्र एक-एक परमाण अरीर, ताकि उन्हें पर दूसरा अरीर शारण करना



वाधारहित या अपरिवर्तिष्णु रहना। दूसरे मत के अनुसार अस्तित्व का तात्पर्य है सत् तत्त्व में परिवर्तन होता है तथापि उसका व्यवितत्व एक और अखण्ड रहता है। ये दोनों विचारधाराएँ अपनी-अपनी हृष्टि से चेतन तत्त्व को शाश्वत मानती थीं। आत्मतत्त्व को एक और अखण्ड द्रव्य मानती थीं। इन शाश्वतवादी विचारधाराओं के विरोध में बुद्ध ने कहा—ऐसा कोई भी तत्त्व या सत्त्व नहीं है जो कान के प्रवाह में अखण्ड या अवाधित रह सके। हर एक तत्त्व या अस्तित्व अपने स्वभाव के कारण ही काल के आनन्द-नियम या क्रम-नियम का वर्णन होता है। ऐसे दो क्षण भी नहीं हो सकते जिसमें कोई एक सत् जैसा है वैसा ही रहे। इस प्रकार बुद्ध ने बहुत के मौलिक स्वरूप या सत्त्व को ही कालस्वस्थ मानकर शाश्वत द्रव्यवाद के स्थान पर क्षणिकभाव या गुणमध्यात्मवाद की मस्थापना की। प्रस्तुत गस्थापना में बुद्ध ने चेतन और अचेतन दोनों तत्त्व रखे जिससे जो शाश्वत आत्मवाद की विचारधारा में थोत-प्रोत थे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बुद्ध ने आत्मतत्त्व मानने में इन्कार किया है। और उन्होंने बुद्ध को निराम वादी कहा। किन्तु बुद्ध की हृष्टि और थी। उनको शाश्वतवाद की बुविनयाँ भी प्रभावित नहीं कर सकी तो चेतन तत्त्व के नियेव में भी प्रभु गुरुत्व नहीं मिली, उग्निए उन्होंने लोकायत के भूत-चेतन्य जैसे उच्छ्वेदग्राही भी नहीं माना। उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया। उन्होंने पुनर्जन्म, कर्म-पर्माणुं और मोक्ष मधी को माना है। जीव, आत्मा और चेतन तत्त्व एवं उन्होंने उग में स्थान दिया है।

उपर एक मन्य-नाम है कि जीन, साम्ययोग, न्याय-वैशेषिकदर्शन में दर्शाया गया गम-स्वरूप के मध्यमें एक निश्चित धारणा रही है कैसी नहीं रही है। जब हम बोद्दुद्दयन के तत्त्वनिष्पत्ति के उत्तरांश गम-पर्ययन करते हैं तब हमें आत्मस्वस्थ के मध्यम में उपर नहीं है।



ग्रन्थों में वौद्ध के पूर्वपक्ष के स्त्री में प्रमुतुत वाद का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> उन सम्मितीय या वात्सीपुत्रीय पुद्गलवादियों का मन्तव्य था कि पुद्गल या जीवद्रव्य वस्तुत है। किन्तु जब उनमें पूछा गया कि क्या उसका अस्तित्व 'स्त्री' सहश्र है? तब उन्होंने उत्तर में इन्कार किया। 'पुद्गलास्तितवाद' वृद्ध सघ में आया किन्तु तथागत वृद्ध की मूल हृष्टिविन्दु के माथ मेल बैठ तभी सका अत अन्त में वह केवल नाम मात्र रह गया।

### त्रिकात्तिक धर्मवाद और वार्तानिक धर्मवाद

पुद्गलनैरात्मयवाद सम्यक् स्त्री से विकसित हो रहा था। उसे शाश्वत आत्मवादियों के सामने टिकना था, उनके आक्षेपों का तर्क पुरस्तर उत्तर देना था और साथ ही पुनर्जन्म, वन्ध-मोक्ष की तुद्धिग्राह्य व्याप्ति करनी थी, अत सर्वास्तितवाद अस्तित्व में आया। उसने उस 'नाम' तत्त्व का 'चित्त' पद ने भी प्रयोग किया और उस चित्त या वेदना, सज्जा, मंस्कार और विज्ञान के सघात को अनेक महजात या आगन्तुक, साधारण-असाधारण अण्डों में—धर्मों में विभवत करके उसका निरूपण किया। वह 'सर्वास्तितवाद' के स्त्री में प्रमिद्ध हुआ। प्रमुतुतवाद ने चित्त और उसकी विविध अवस्थाओं का वहूत ही वारीकी में विघ्नेयण किया। क्षणिकवाद में चिपके रहने पर भी भूत-भवित्व को स्वीकार कर प्रत्येक क्षणिक चित्त एवं नैतसिक की त्रिकात्तिकता अपनी हृष्टि में स्थापित की।<sup>२</sup> पुनः इस वाद के मामने उस विरोग रथा कि नुद्ध तो क्षणिकवादी और केवल वर्तमान को ही मानते हैं तो फिर उन्होंने गाय त्रिकात्तिकता की मगति किस प्रकार बैठ सकती है? त्रिकात्तिकता गाय रथर पुन शाश्वतवाद की स्थापना करनी है। उसी विरोग के लिए मोत्रान्तिकवाद ने जन्म लिया। उसने मर्वास्तितवाद गाय की मधुरण नामे मात्र रखी। केवल जिन धर्मों को मर्वासि



इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धदर्शन ने आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक सोपान पार किये हैं और अन्त में योगाचार सम्मत विज्ञप्तिमात्र वाद में वह प्रतिष्ठित हुआ है। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित एवं कमलशील जैसे महान् दार्शनिकों ने इसे वृद्धिग्राह्य बनाने का प्रबल प्रयास किया।<sup>१</sup>

बौद्ध-परम्परा की सभी शाखाओं ने स्वसम्मत चित्तसन्तान या जीव का वास्तविक भेद माना है। विज्ञानाद्वैतवादी, जो विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी वास्तविक नहीं मानते हैं, उन्होंने भी विज्ञानसन्ततियों का परस्पर वास्तविक भेद मानकर देहभेद से जीवभेद की मान्यता का अनुसरण भी किया है।<sup>२</sup>

चित्त, विज्ञानसन्तति, या जीव के परिमाण के सम्बन्ध में बौद्ध-दर्शन ने अपना कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किया है। जिसके आधार में साधिकार यह कहा जा सके कि वह अणुवादी है या देहपरिमाणवादी है तथापि विमुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में 'चित्त या विज्ञान का आथर्य 'हृदयवत्तु'<sup>३</sup> कहा है। उसमें यह प्रतीत होता है कि वे हृदयवत्त्वुनिश्चित विज्ञान के सुन्दुर गादि स्पष्ट असर को देहव्यापी मानते होंगे।

हम लिख चुके हैं कि जैन, साध्य-योग आदि ने पुनर्जन्म के लिए एक ग्रन्थ में द्वितीय स्थान पर जाने वाला सूक्ष्म घरीर माना है। वैसे ही बौद्ध ग्रन्थ दीप्तिनिलालग में 'गन्धर्व' का वर्णन है। गन्धर्व का अर्थ है कोई मरार दमरे ग्रन्थान पर जाने वाला हो तब गन्धर्व सात दिन तक अनुकूल अनमर नी प्राणिशा रखता है। 'कथावत्तु' ग्रन्थ में गन्धर्व की कल्पना के आधार से ग्रन्थाभाग घरीर की जर्नी की है। उसके पश्चात् अन्य लोगों ने और वसु-रामों भागियों ने अन्तराभव घरीर मानकर उसका समर्थन किया है।<sup>४</sup> वृत्तरामी लघोपाने अन्तराभव घरीर न मानकर प्रतिमन्त्रि की उपाधि का उपान्त दिया है।<sup>५</sup>

ଶ୍ରୀକୃତ୍ସନ୍ଧାନ ପିଲାଗୁଡ଼ିକ

आपकी विद्या के लिए आपने अपनी जाति को बदल दिया है। आपकी विद्या के लिए आपने अपनी जाति को बदल दिया है।

三 藏文大藏经

• 五代宋辽夏金元朝詩

वास्तविक है। वह ब्रह्म मेर रवतन्त्र है। उनका मन्तव्य अनन्त नित्य जीव-वाद का है।

भास्कर प्रभृति आचार्यों ने ब्रह्म के एक परिणाम, कार्य या अश के स्पष्ट मेर जीव को वास्तविक तत्त्व माना है। भले ही ब्रह्म शक्ति से ये परिणाम, कार्य या अश उत्पन्न हुए हो तथापि वे किसी भी दृष्टि से मायावी नहीं हैं।

महाभारत मेर मात्यमत के स्पष्ट मेर तीन विचारधारायें मिलती हैं

(१) जीवीग तत्त्ववादी।

(२) रवतन्त्र अनन्त पुरुष मानने वाला पञ्चीस तत्त्ववादी।

(३) पुरुषों मेर पृथक एक ब्रह्मतत्त्व मानने वाला द्वयीम तत्त्ववादी।

ऐसा ज्ञात होता है कि इन्हीं तीन विचारों के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधारा का विकास किया और उस विकास यात्रा मेर उपनिषदों का आधार भी लिया गया है। मध्येष मेर जीव सम्बन्धी वेदान्त विचारधारा केवलाद्वैत, मत्योपाधि-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अविभागाद्वैत, यूद्धाद्वैत, एव अचिन्त्यभेदाभेद जैसी मुख्य स्पष्ट मेर अद्वैत नक्षी परम्पराओं मेर प्रवर्तमान है और द्वैतवाद के स्पष्ट मेर भी उमेर ममर्जन मिलता रहा है।



केवलाद्वैत में जीव की सत्त्वा के सम्बन्ध में भी एक मत नहीं है। कितने ही विज्ञों ने एक जीव मानकर एक ही शरीर को सजीव कहा और अन्य शरीर को निर्जीव। कितने ही विज्ञों ने जीव के एक ही होने पर भी दूसरे शरीरों को सजीव कहा है। कितने ही विज्ञों ने जीव अनेक माने हैं। सिद्धान्त विन्दु में मधुसूदन सरस्वती ने एवं वेदान्तसार में सदानन्द ने सक्षेप में उल्लेख किया है।

भास्कर का अभिमत है कि ब्रह्म अपनी नाना गतियों से जगत् वे समान जीव के रूप में भी परिणत होता है। जीव ब्रह्म का परिणाम है और वह क्रियात्मक होने से सत्य है। ब्रह्म एक है और उसके परिणाम अनेक हैं। एकत्व और अनेकत्व में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। जिस प्रकार एक ही समुद्र तरगों के रूप में अनेक दिखाई देता है वैसे ही जीव ब्रह्म के हैं। अज्ञान जहाँ तक रहता है वही तक उनका अस्तित्व अनुभव करते हैं।

विशिष्टाद्वैत पर चिन्तन करते हुए रामानुज ने जगत् के समान जीव का मूल में ब्रह्म के अव्यक्त शरीर के रूप में वर्णन किया और कि उस अव्यक्त को अनुक्रम से व्यक्त-जीव और व्यक्त-प्रपञ्च के रूप में घटित किया है। अव्यक्त चिन्त शनित व्यक्त-जीव स्प प्राप्त करता है और प्रवृत्ति भी रहता है। प्रमुख प्रवृत्ति का मूल स्रोत पर ब्रह्म नारायण है।

“गाये निरार्थ पर ब्रह्म को अभिन्न स्वरूप मानकर के भी उम्मा दी गयी रूप में गणिणाम मानते हैं, अत वे भेदाभेदवादी होने से एक ही रूपांतरी होताहो (१)। एक ही पवन म्यान भेद होने से विनिभ म्य में एक ही रूपी प्रकार ब्रह्म भी अनेक जीवों के रूप में परिणत होता ही रामपरिमाण और आरोपित नहीं मानते।

“मनव्य (२) कि प्रवृत्ति के समान प्रमुख अनादि और



समानार्थक प्रयोग हुआ है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बहुत अन्तर है। दो बार क्रिया शब्द का प्रयोग विचार-भेद को प्रकट करता है। जब हम यह कहते हैं कि आमाशय की क्रिया का नाम पाचन तब पाचन और आमाशय की क्रिया अभिन्न प्रतीत होती है किन्तु ज मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया पर चिन्तन करते हैं तब उस क्रियामात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का चिन्तन करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ क्रिया व्यान में नहीं आती, अत ये दोनों घटनाएँ एक नहीं हैं। पाचन में आमाशय की क्रिया का परिज्ञान होता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय ये अलग-अलग नहीं किन्तु एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क एवं शरीर के सम्पूर्ण अवयव चेतनाही तत्त्व से निर्मित हैं। जड़ से कभी भी चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इ भाव को व्यवत करते हुए पादरी वटलर लिखते हैं—‘आप हाइड्रोजन त के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु और वारुद की भाँति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्ति निर्मित हुआ है, ले लीजिए। चिन्तन कीजिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् ज्ञान-यून्य हैं, किर चिन्तन कीजिए कि ये परमाणु साथ-साथ दोढ़ गे रहे हैं। उम श्रद्ध यान्त्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खीच सकते होगा यह आपाती दृष्टि, श्वभव या विचार में आ सकता है। उस यान्त्रिक तात्त्व मृत परमाणुओं गे बोध, विचार एवं भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। यह फासोंने मटराटाने में होमर कवि या विलयउर्गेर रहा। मार्गार्गां भे गणित डिफरेनशियल केल्कुलस (Differential Calculus) का दर्शन करता है? आप मनुष्य की जिज्ञासा का—‘मैंने दरमार गणित्रण की यान्त्रिक क्रिया में ज्ञान की उत्पत्ति कैसे की?’ रहे गारु उनम नहीं दे गकते।’

“...hydrogen atoms, your dead oxygen atom”,  
 “...your dead nitrogen atoms, your dead pho-  
 “...and all other atoms dead as brains of shot,”  
 “...so found. Inspire them separate and sen-  
 “...to meet or find forming all imaginable com-



(४) मग्निष्ट पर आधात होने से गमणणकित मन्द होती है।

(५) मग्निष्ट का कुछ विशेष भाग जिसका ममवन्ध मानकि जवित के माथ है उसकी अति होने पर मानसिक जवित क्षीण होती है।

### विचारों का शरीर पर प्रभाव

शरीर और मन का परम्पर घनिष्ठ ममवन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षिप्ति करने में एवं बोलिक थ्रम करने में शरीर कुश होता है। मुख के दुख का शरीर पर प्रभाव पड़ता है। क्रोध आदि में रवत विपाक्त हो जाते हैं। इस प्रकार अन्योन्याथ्रयवादी इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मानसिक दोषों जागीरिक जवितयों का परम्पर ममवन्ध है। दोनों जवितयों पृथक् हैं कि मानसिक दोष विगटण पदार्थों के वीच कार्य-कारण किस प्रकार है इस ममम्या वा ममाधान नहीं कर सके हैं।

### आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर ये दोनों मजातीय नहीं हैं। आत्मा चेतन है कि अस्प है, शरीर जड़ है और स्पवान है। प्रश्न यह है कि चेतन और जड़ अस्प और स्पवान का, जो विल्कुल ही विरोधी है उनका परस्पर मन हीमे हो सकता है? जेनदर्शन ने इस प्रश्न का समाधान दिया है। ममा जिन्हीं भी आत्माएँ हैं वे सूक्ष्म और स्थूल उन दोनों प्रकार के शरीर विद्युत हैं। एक जन्म में दूसरे जन्म में जाते समय स्थूल शरीर नहीं पर सूक्ष्म शरीर बना रहता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करता है। और सूक्ष्म शरीर एवं आत्मा का सम्बन्ध अनुर्भवी है। अपरनानुर्भवी का तात्पर्य है जहाँ पर पहले और दीदे न दिखाए न दो, पोर्नामय न दो। मारण यह है कि उनका सम्बन्ध अनुर्भव अरथा में जीव कथञ्चित् मूर्ति भी है। कथञ्चित् मूर्ति उसमें भरीर धारण करता है। मारण दणा में जीव और कथञ्चित् मारण दोनों हैं। अत उनका सम्बन्ध होना सम्भव है। कथञ्चित् मारण दणा में प्रकट होना है। अमूर्त वनते के पश्च

कथञ्चित् मारण का सम्बन्ध नहीं रहता।

### आत्मनिष्ट विजान और आत्मा

“... ये दो, सब्द वेजानिग आत्मा को मन में पृथक् नहीं दें कर्त्ता विद्या दोनों ही मानते हैं। मन और महि-



नहीं कर सकते। फोटो के नेगेटिव एनेट के समान मरितापक वर्तमान के चित्रों को अकित कर सकता है, मुरक्खित रख सकता है किन्तु भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। "यह क्यों है? यह है तो ऐसा होना चाहिए, इस प्रकार नहीं होना चाहिए, यह वही है, उसका परिमाण इस प्रकार होगा।" यह राग चिन्तन मिद्ध करता है कि कोई रवतन्त्र चेतनात्मक शक्ति का अरितत्व है। एनेट की चित्रावली में नियमन होता है। उसमें प्रतिविम्बित चित्र के अनिरिक्त कुछ भी नहीं होता किन्तु मानव-मन पर यह नियम नागृ नहीं होता। वह भूतकाल की धारणाओं के आधार पर चिन्तन कर निष्ठार्थ निरानन्दता है, और भविष्य का मार्ग गुनिण्डति करता है अतः प्रग्नुत हृष्टात ने मानव-क्रिया की सगति नहीं वेठ सकती।

विज्ञान ने जो अभूतपूर्व प्रगति की है वह प्रगति अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व है। ये आविष्कार किसी हाट-बग्नु का प्रतिविम्ब नहीं अपितु रवतन्त्र-मानस की तर्कणा के कार्य है। एतदथं रवतन्त्र-नेतना का विकास और अस्तित्व मानना चाहिए।

वैज्ञानिक हृष्टि में १०२ तत्त्व हैं। वे सभी तत्त्व सूर्त हैं। उन्होंने लाज नर चिन्तने भी प्रयोग किये हैं वे सभी मूर्त-द्रव्यों पर किये हैं। अमूर्त-द्रव्य-चिन्त-प्रवृक्ष नहीं ही सकता और न उस पर प्रयोग ही हो सकते हैं। यहाँ मूर्ति प्रयोग वैज्ञानिक भौतिक माध्यन्युक्त होने पर भी उसला यह मता नहीं हो। भौतिक माध्यनों में आत्मा का अस्तित्व-नास्तित्व एकी रूपी नहीं हो सकता। यर्जीर पर किये गये प्रयोगों में आत्मा की स्थिति



क्षुद्राकार जीवाणु दिखाई देने लगते हैं। इसमें यह सिद्ध है कि वाहर की हवा में रहकर ही जीवाणु या प्राणी का अण्डा या नन्हे-नन्हे जीव इस पदार्थ में जाकर उपस्थित होते हैं।"

दूसरे दार्शनिकों का अभिमत है कि निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड', और नारी वैज्ञानिक नेपेसिनग्काया, अगु-वैज्ञानिक डॉ. डेराल्टयूरे और उनके शिष्य स्टैनमेर मिनर आदि निप्प्राण मना में सप्राण मत्ता की उत्पत्ति मानते हैं।

मानवाद का कहना है कि चेतना भीतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है। पानी पानी है। जब उसका तापमान बढ़ा दिया जाता है तो निश्चित विन्दु पर पहुँचने पर भाप बन जाता है, यदि उसका तापमान कम कर दिया जाय तो वर्फ बन जाता है। जिस प्रकार भाप और वर्फ का पृथ्वी पर पानी है। उसका भाप या वर्फ के स्प में परिणमन होने पर गुगात्मक परिवर्तन होने पर पानी-पानी नहीं रहता, वैगे ही चेतना का पहना न्य मिटार नेतना को पैदा कर सका है।

पर प्रश्न गहर है कि पानी निश्चित विन्दु पर पहुँचने पर भाषण कर्ता बनता है यैसे ही भोतिकता का ऐमा कीनमा निश्चित विन्दु है जहाँ पर पहुँचार भोतिकता नेतना के स्प मे वदता जाती है। उम प्रश्न का अमारण देखानिक अभी तक नहीं कर पाए है। मस्तिष्क के हाइट्रोजन और गायट्रोजन गार्वन, फामफोरम प्रभृति गटक तत्व है। उनमें मेरा अपना आपादाह है? गा भी के मिथ्या मे नेतना उत्तर देखा गया कि यांकी मात्रा मिलने पर नेतना उत्तर देखा गया कि यांकी परिज्ञान देखानिकों को नहीं है। नेतना का पूर्ण उत्तर देखा गया कि यांकी गगारान नहीं कर सकते।

वहाँ क्या और महिलाका आत्मा है?

‘मैं अब तो यही क्षमता नहीं देखती हूँ।

१० वर्ष, जब ग्राह निश्चय लेते था हो जाता है।

1. *Introduction of the new system*

१०८ अंगुष्ठा वार विश्वास विनिष्ठा विभव

1951-6 वर्ष की अपेक्षा 30 फ़ैला हुआ

— १८८०—  
— १८८१—



पिण्ड है, वह स्पी है अत उसे देखा जा सकता है, उसका विश्लेषण किया जा सकता है किन्तु आत्मा अस्पी है, इन्द्रियों में उसे नहीं देख सकते। अतएव जीवकोपों में आत्मा की उत्पत्ति वताना अनुचित है। आत्मा के जो थमस्य प्रदेश वताये गये हैं वह केवल आत्मा का परिमाण जानने के लिए है। वह आरोपित है, वास्तविक नहीं। आत्मा अखण्ड द्रव्य स्प है। उसमें कभी भी सधात-विधात नहीं होता। एक धागा भी कपड़े का उपकारी है उसके अभाव में कपड़ा पूर्ण नहीं होता किन्तु एक धागा ही कपड़ा नहीं है। कपड़ा समुदित धागाओं का नाम है। वैसे ही एक प्रदेश जीव नहीं है। थमस्य चेतन प्रदेशों के पिण्ड का नाम ही जीव है।

चेतन्य आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। यह गुण आत्मा के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में नहीं है, अतएव आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सन् दोनों घटते हैं। पदार्थ वह है जो मत् हो, पूर्व-पूर्वंवत्तीं अवस्थाओं को छोटता हुआ, उत्तर-उत्तरवत्तीं अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वन्तर को न छोड़े। आत्मा का जान-प्रवाह निरन्तर प्रवाहित है। वह उत्तराद्य युक्त होने पर भी ब्रुव है।



जार्ज वर्कले ने विश्व की सत्ता को तीन भागों में विभक्त किया (१) आत्मा और उसका वोध, (२) परमात्मा, (३) वाह्य पदार्थ। उसके अनुसार आत्मा कदापि चिन्तन या चेतना के अभाव में नहीं रह सकता।

उकार्ट, लॉक और वर्कले ने आत्मा की सत्ता को स्वयसिद्ध माना है। उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ह्यूम ने आत्मा को भी प्रकृति की तरह एक कल्पना मात्र माना है। फ्रीखटे ने 'मैं हूँ' से प्रकट किया कि 'मैं' ज्ञेय में भिन्न है। मैं और ज्ञेय एक दूसरे में ओतप्रोत हैं।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के सम्बन्ध में अनुसधान किये हैं किन्तु अभी तक वे किसी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाये। आज भी आत्मा उनके लिए पहेली बनी हुई है। यह पहेली कव बुझेगी निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञानी नहीं ॥



पक, किटू तथा चिकनी दोमट) यहाँ ये भेद अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। प्रजापना में भी मृदु पृथ्वी के सात प्रकार वर्ताये हैं।

कठिन पृथ्वी—भूतल-विन्यास (टैरेन) और करवोपलो (ओरिस) को छत्तीम भागो में विभक्त किया गया है—

- (१) शुद्ध पृथ्वी
- (२) शर्करा
- (३) वानुका—बलुड
- (४) उपल—कई प्रकार की जिलाएँ और करवोपल
- (५) शिला
- (६) लवण
- (७) ऊप—नीनी मिट्टी
- (८) अयम्—लोहा
- (९) ताम्र—ताँत्रा
- (१०) त्रपु—जग्त
- (११) मीमक—मीसा
- (१२) नाय—चाँदी
- (१३) मुख्य—मोता
- (१४) वज्र—हीरा
- (१५) इग्नित



साधारण शरीरी घनरूपति के अनेक प्रकार हैं, जैसे—कर्त्ता, मूल आदि।

त्रिस जीव छह प्रकार के हैं—

१ अग्नि	}	गतिव्रस	४ श्रीनिद्रिय
२ वायु			५ चतुरिन्द्रिय
३ द्वीनिद्रिय			६ पचेनिद्रिय

अग्नि और वायु की गति अभिप्रायपूर्वक नहीं होती, उसलिए ; केवल गमन करने वाले त्रिस कहलाते हैं। द्वीनिद्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गम करते हैं।

अग्नि और वायु ये दोनों मूर्ध्म और रथूल स्प से दो-दो प्रकार हैं। मूर्ध्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है और रथूल जीव लोक के अमूर्ध्म भाग में है।<sup>३</sup> रथूल अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अगार, मुमुक्षु, युद्ध, अग्नि, अच्चि, ज्वाला, उत्का, विद्युत आदि।<sup>४</sup>

स्थूल वायुकायिक जीवों के भेद उम प्रकार हैं—(१) उत्कलिन (२) मण्डलिका (३) घनवात, (४) गुञ्जावात, (५) युद्धवात (६) मवत् वान।

अभिप्रायपूर्वक जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे मुड़ना गुरुनित हाना, फैकना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना यी-ना—से भी क्रियाएँ हैं जो आगति और गति के विज्ञाता हैं वे सभी रम हैं।

प्रथम परिभाषा है अनुगार व्रग जीवों के नार प्रकार है—<sup>(१)</sup> (२) द्वितीय द्वीनिद्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, (४) पचेनिद्रिय। ये स्थूल होते हैं वे सर्वात्माभाग नहीं हैं। द्वीनिद्रिय, श्रीनिद्रिय और चतुरिन्द्रिय जी-







तत्त्व और अधर्म-द्रव्य का प्रयोग रिथति सहायक-तत्त्व के रूप में भी हुआ है। जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी भी दार्शनिक ने इस पर चिन्तन नहीं किया है। आधुनिक वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of Motion) को माना। मुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइस्टीन ने गति-तत्त्व की संरचापना करते हुए कहा—लोक परिमित है, लोक से परे अलोक भी परिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उम शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है। वैज्ञानिकों ने जिने ईंधर—गति तत्त्व—कहा है उसे ही जैन-माहित्य में धर्म-द्रव्य कहा है।<sup>१</sup>

---



तथापि उसकी वह क्रिया विना पानी के नहीं हो सकती। पानी के अभाव में तैरने की शक्ति होने पर भी वह नहीं तैर सकती। इसका अर्थ है कि पानी तैरने में सहायक है। जब मछली तैरना चाहती है तब उसे पानी की सहायता लेनी ही पड़ती है। यदि वह न तैरना चाहे तो पानी बल-प्रयोग नहीं करता। उसी तरह जब जीव या पुद्गल गति करता है तब उसे धर्मद्रव्य की सहायता लेनी पड़ती है।

हम वर्तमान ट्रिट से धर्मद्रव्य के सहाय को समझना चाहे तो ट्रेन और पटरी का उदाहरण समुचित होगा। ट्रेन के लिए पटरी की महायता जैसे अनिवार्य स्पृष्टि गे अपेक्षित है वैसे ही जीव और पुद्गल द्रव्य के लिए धर्म द्रव्य अपेक्षित है।

गति और स्थिति में दोनों ही क्रियाएँ सहजस्प से जीव और पुद्गल में ही पायी जाती हैं। इनका अवभाव न केवल गति करना है और न रियाति करना ही है। किसी भय किसी में गति होती है तो किमी समय किमी में स्थिति होती है। लोक में चारों प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं (१) स्थिति में गति को प्राप्त होने वाले (२) गति में स्थिति को प्राप्त होने वाले (३) हमेशा स्थिर रहने वाले और (४) हमेशा गति करने वाले। दोनों निम्न भिन्न-भिन्न माध्यम मानना तर्कमग्न है।



नहीं होता तो कौन खड़ा रहता ? कौन बैठता ? किस प्रकार सो सकते कौन मन को एकाग्र करता ? कौन मौन करता ? कौन निस्पन्द बनता निमेष कैसे होता ? यह विश्व चल ही होता । जो स्थिर है उन सबक आलम्बन स्थिति-सहायक-तत्त्व ही है ।<sup>१</sup>

### ईथर के साथ तुलना

अन्य भारतीय एव पाश्चात्य दर्शनों में गति को तो यथार्थ माना गया है किन्तु गति के माध्यम के रूप में 'धर्म' जैसे किसी विशेष तत्त्व की भाव अङ्गकर्ता अनुभव नहीं की गई । आधुनिक भौतिक विज्ञान ने 'ईथर' के रूप में गति-सहायक एक प्रैसा तत्त्व माना है जिसका कार्य धर्म द्रव्य से मिलता जुलता है । 'ईथर'<sup>२</sup> आधुनिक भौतिक विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शोध है । ईथर के मम्बन्ध में भौतिक विज्ञान वेत्ता डा० ए० एस० एडिसन नियते हैं—

"आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है, भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है, भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे 'ईथर का अभीतिक नागर' ।"<sup>३</sup>

अनश्वट्ट आउन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार 'ईथर अभीतिक अनिवार्यिक, अनिभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अस्ति ना अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है ।<sup>४</sup>



प्रश्न है कि धर्म के समान अधर्म को भी लोक व्यापक मानेगे तो वे दोनों एक दूसरे में मिल जायेगे, फिर दोनों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहेगा।

उत्तर है कि एक से अधिक तत्त्वों के सर्वव्यापक होने पर भी उनमें अपने-अपने कार्य की वट्टि से भिन्नता है। जैसे अनेक दीपकों के प्रकाश एक दूसरे से मिल जाने पर भी उनमें पृथक्ता रहती है। परस्पर मिल जाने पर भी उनमें से किसी का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, वैसे ही धर्म और अधर्म के लोकव्यापक होने पर भी उनमें से किसी का अस्तित्व समाप्त नहीं होता।

कितने ही आधुनिक विद्वान अधर्म की तुलना, या समानता 'गुरुत्वाकर्षण' (gravitation) एवं फील्ड (field) के साथ करते हैं किन्तु डॉक्टर मोहन नान जी मेहता का मननव्य है कि गुरुत्वाकर्षण और फील्ड से अधर्म पृथक् थोर एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

आचार्य सिद्धमेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को अनाग्रह्य मानते हैं। उनका अभिमत है कि ये दोनों द्रव्य नहीं, द्रव्य के पर्याग मात्र हैं।



दो-दो प्रदेशों की वृद्धि करती हुई अस्त्य प्रदेशात्मक बन जाती है। अशुद्धि के बल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों में होता है। उसमें अन्त तक चार ही प्रदेश रहते हैं किन्तु वृद्धि नहीं होती।<sup>१</sup>

जो व्यक्ति जहाँ है, उस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्वदिशा है जिस ओर सूर्यास्त होता है वह पश्चिम दिशा है। उस व्यक्ति के दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा है और बाये हाथ की ओर उत्तर दिशा है। उन दिशाओं को नाम-दिशा भी कहा गया है।<sup>२</sup>

आचाराग निर्युक्ति में निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और भी बताया है। प्रज्ञापक जिस ओर मुँह किये होते हैं, वह पूर्व दिशा उसका पृष्ठ भाग पश्चिम दिशा और दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक दिशा कहा है।<sup>३</sup>

ग्मरण खनना चाहिए कि दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों में सूर्योदय की अपेक्षा दिशाओं की कल्पना की गई है। आकाश के प्रदेशों में पवित्रियाँ सभी तरफ कपड़े में तन्तु के ममान श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जिनने आकाश को रोकता है वह प्रदेश कहलाता है। उग्नाय म आकाश के अनन्त प्रदेश है। यदि हम पूर्व, पश्चिम आदि का गवहार होने से दिशा को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानेंगे तो पूर्व देश, पश्चिम आदि गवहारों में 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना होगा, फिर प्रातः नाम आदि गवहारों स्वतन्त्र द्रव्यों की कल्पना करनी होगी, जो उत्ता-  
. १, २, ३



जाता है।<sup>१</sup> जैनदर्शन की आकाश सम्बन्धी मान्यता और कान्ट की विचारधारा में इतना-सा साम्य है कि दोनों ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

प्लेटो, अरस्तु ने आकाश को भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित माना है। प्लेटो ने 'कोरा' तत्त्व को माना है। अरस्तु का मन्तव्य है कि भौतिक पदार्थ के अभाव में आकाश को स्वीकार नहीं कर सकते। डेकाट्रैस का मन्तव्य है कि आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना तर्कसंगत नहीं है।

**समीक्षा**—आकाश का यदि अस्तित्व है तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र होना चाहिए। भौतिक विश्व सान्त है और आकाश अनन्त है। स्थान प्राप्त करना और स्थान को रोकना, यह भौतिक पदार्थ का गुण है, पर जिसमें स्थान पाया जाता है वह उससे पृथक् है। अनेक पदार्थों का एक ही स्थान में आवृत्ति होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर में अनेक स्थानों में आवृत्ति होना, आश्रय देने वाले तत्त्व को आवृत्ति तत्त्व से पृथक् कर देता है। जैनदर्शन के अभिमतानुसार आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश पर अनन्त भौतिक पदार्थ आश्रय ग्रहण कर सकते हैं। आकाश अमूर्त है जबकि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण-युक्त होने से मूर्त है। अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कदाचि नहीं हो सकता।

नाटानीज आदि कुछ दार्शनिक आकाश को हृष्य पदार्थों का व्रत मानते हैं। महान् वैज्ञानिक आउन्स्टीन आदि ने भी प्रमुख मान्यता दीर्घ से।

“गोरी-गारि” का मन्तव्य है कि आकाश ज्ञाता (आत्मा) और भूत (प्रकृति) में मान्यता भिन्न प्रकृत स्वतन्त्र नास्तिकता है। यह मान्यता जैन दर्शन की है। यही मान्यता न्यूटन के आकाश सम्बन्धी वैज्ञानिकों का भी विचार है। न्यूटन आदि ने और जैनदर्शन ने आपने इन दोनों दर्शनों के बारे में स्वीकार दिया है।

१. विजयनाथ द्वारा लिखा गया “जैन दर्शन के विवरण” में लिखा गया है।



प्रजापता<sup>१</sup> आदि मे काल सम्बन्धी दोनों मान्यताओं का उल्लेख है। उसमें पश्चात् आचार्य उमास्वाति<sup>२</sup>, सिद्धसेन दिवाकर<sup>३</sup>, जिनभद्रगणी क्षमा श्रमण<sup>४</sup>, हरिभद्र मूरि<sup>५</sup>, आचार्य हेमचन्द्र<sup>६</sup>, उपाध्याय यशोविजय जी<sup>७</sup>, विनयविजय जी<sup>८</sup>, देवचन्द्र जी<sup>९</sup> आदि इवेताम्बर विज्ञो ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द<sup>१०</sup>, पूज्यपाद<sup>११</sup>, भट्टारक अकलकदेव<sup>१२</sup>, विद्यानन्द स्वामी<sup>१३</sup> आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत का अभिमत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-गत आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य है वे सभी पर्याय-विशेष के समेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया विशेष है। जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के अतिरिक्त होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्याय न्यूप मे स्वत ही परिणत हुआ करते हैं अत जीव-अजीव के पर्याय-पूर्ण को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप मे कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।<sup>१४</sup>

द्वितीय मत का अभिमत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वय ही गति करते हैं और स्वय ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और मिति मे निमित्त दृष्टि मे धर्माभिनाश और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते

---



तन्तु कदापि फट नहीं सकते, इसलिए यह निश्चित है वस्त्र फटने में कार्बन भेद होता है।

सारांश यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है और प्रत्येक तन्तु में अनेक रुए होते हैं उनमें से सर्वप्रथम प्रथम रुआ छिद्रता है, उसके पश्चात् दूसरे रुएँ। अनन्त परमाणुओं के मिलन को सघात कहते हैं। अनन्त मधातों का एक समुदाय होता है और अनन्त समुदायों की एक समिति होती है। इस प्रकार अनन्त समितियों के मगठन में तन्तु के ऊपर का एक रुआ तंयार होता है। इनका छेदन अनुक्रम से होता है। तन्तु के प्रथम रुएँ के छेदन में जिनना समय लगता है उसका बहुत ही मूल्य अण यानी असर्वात्मा भाग 'नमय' कहलाता है।

जिसका विभाग न हो सके

—एक समय

अमृतात् मम

—एक आवलिका

२५६ आवलिका

—एक क्षत्तिका भव

(मवसे कम आयू)

સર્વાનુભૂતિ આવનિક

—एक उच्छवास-नि उवाग

Digitized by srujanika@gmail.com

—८५८ प्राप्ति

ग्रन्थालय भवन

या एह श्वामीन्द्रवाम

—एक रत्नोक

১৪৮

૩૮૮

—एक तर्व

۷۷

— दो पारी अथवा

۷۰

—६७७३६ धारा क भव

૧૯૭૭ અને ૧૯૭૮ આવનિક પા

३,३३ प्राण अवलोकन

प्र० शुर्ति (८८ मिनट)

ପାଦ ଅହୋରାତ୍ରି

177

三

۱۰۷

四三



सकता है, जब तक वह परमाणु के रूप में नहीं पहुँच जाता वहाँ तक वह स्कन्ध है एवं उसके सहवर्ती जितने भी विभाग है, वे सभी स्कन्ध हैं।

### स्कन्ध-देश

स्कन्ध एक डकाई है। उस डकाई से बुद्धि-कल्पित एक विभाग स्कन्ध-देश कहलाता है। जब हम कल्पना करते हैं कि यह इस पेन्सिल वा आधा भाग है, या इस पुस्तक का एक पृष्ठ है, तब वह उस समग्र म्कन्ध पेन्सिल या पुस्तक का एकदेश कहलाता है। सारांश यह है कि हम जिसे देख करें, वह स्कन्ध से पृथक् नहीं होगा। पृथग्भूत होने पर तो वह स्वतन्त्र म्कन्ध बन जायेगा।

### स्कन्ध-प्रदेश

स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अश स्कन्ध प्रदेश है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं—परमाणु जब तक स्कन्धगत है तब तक वह स्कन्ध प्रदेश कहलाता है। वह अविभागी अश है, सूक्ष्मतम है, जिसका फिर अग नहीं बन पाता।

### परमाणु

स्कन्ध से पृथक् निरण-तत्त्व परमाणु है। जब तक वह स्कन्धगत प्रदेश कहलाता है और अपनी पृथक् अवस्था में वह परमाणु कहलाता। शान्तकारों ने परमाणु के स्वरूप को अनेक प्रकार में स्पष्ट गिया। 'परमाणु, पुरुगन' अविभाज्य है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है अ उदाहरण है। इसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका विभाग न हो सकता। इसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शम्भ्र अवयवा अस्त्र से उसका क्रमण भास गया हो सकता। तर तत्त्वार की तीक्ष्ण अनी पर भी रह सकता है। "पर भी उमरा देदन-भेदन नहीं हो सकता। जाजवत्यमान अः पर भी मरी, पुरुगवर्ती महामेघ उमे आद्र नहीं कर सकता। पर भी भ्राती भ्राती में यदि वह प्रविरट हो जाय तो उमे वह वह भी नहीं हो सकता। परमाणु पुरुगन अनार्थ है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्व नहीं।" परमाणु न लम्बा है, न नीड़ा है।



ईस्वी पूर्व ४६०-३७१ है।<sup>१</sup> डिमोक्रिट्स के परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद वहुताश में पृथक् भी है। मौलिकता की दृष्टि से तो वह विलुप्त भिन्न है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिट्स का मत है कि आत्मा सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है।

शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है—परमाणुवाद वैज्ञेयिकदर्शन की विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन, आजीवक आद्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित किया है।<sup>२</sup> किन्तु हम तटरथ दृष्टि से चिन्तन करें तो वैज्ञेयिकों का परमाणुवाद जैन परमाणुवाद से पूर्व का नहीं है और न जैनों के समान वैज्ञेयिकों उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश ही ढाला है। उन नियमों में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है। “अणोरणीयान् महतो महीया किन्तु परमाणु शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न परमाणुवाद ने न की कोई वर्तु ही उसमें है।

डाक्टर हरमन जेकोवी का अभिमत है कि “ब्राह्मणों की प्राचीन दायर्निक मान्यताओं में, जो उपनिषदों में वर्णित है, हम अणु सिद्धान्तः उत्तरेन तक नहीं पाते हैं और इसलिए वेदान्त सूत्रमें जो उपनिषदों की शिक्षा है। तदर्थितन स्पष्ट में वर्ताने का दावा करते हैं, उसका साफ्टन किया गया है। गारु और गोंग दर्शनों में भी इसे ग्रीकार नहीं किया गया है, जो वेरोगमान ती प्राचीन होने का दाना करते हैं। वयोकि वेदान्तसूत्र भी इसके नाम में पुराणों द्वारा अणु सिद्धान्त वैज्ञेयिकदर्शन का अनिमान है। लोग गारु ने भी इसे ग्रीकार किया है। ये दोनों ब्राह्मण परमाणुवादी हैं। इनका प्रारम्भिक गाम्प्रदायिक विद्वानों द्वारा हुआ है न कि दृष्टिकोण से इस दाग। वेद-विग्रेधी मतों ने, जैनों ने उसे गठण किया है। इसकी भी। इस जैनों को प्रथम रथान देने हैं वयोकि उसका अनिमान है। अनीर प्राचीन मता। आधार पर ही आनी पर ही उसका अनिमान है।



गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध ।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, और श्वेत।

वण—कृष्ण, नाल, रक्त, पात, आर इत्यत ।  
यद्यपि सरथान, परिमण्डल, वृत्त व्यश, चतुरंश, और आयत पुद्गल  
में ही होता है, तथापि वह पुद्गल का गुण नहीं है ।<sup>१</sup> किन्तु स्कन्द का  
आकार रूप पर्याय है ।

आकार रूप पर्याय है।  
पुद्गल के जो वीस गुण वताये हैं उनके तर-तमता की दृष्टि में सम्यात, असम्यात, और अनन्त भेदों में विभाजन हो सकता है।<sup>2</sup>  
द्रव्य रूप में सूक्ष्म परमाणु निरवयव और अविभाज्य होने पर भी पर्यायदृष्टि से वैसा नहीं है। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये तीन गुण और अनन्त पर्याय होते हैं।<sup>3</sup> पूर्व वता चुके हैं कि एक परमाणुः एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्तिघ्न-स्तु इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से अनन्त गुणवाला परमाणु एक गुणवाला हो जाता है और एक गुणवाला परमाणु अनन्त गुणवाला हो जाता है। जैनहठित से एक परमाणु वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर वाला हो सकता है।

एक गुणवाला पुद्गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्य एक सा और उत्कृष्ट अमरयात काल तक रह सकता है।<sup>४</sup> द्विगुण में नेकर अन्त गुण नहीं ने परमाणु पुद्गलों के लिए भी यही विधान है। उसके पश्च उगमं पश्चिमतं अनिवार्यं रूपं से होता है। यह नियम जैसे वर्ण के सम में रंगा ही गन्ध, रग और स्पर्श के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

## परमाणु के चार प्रकार

परमाणु के चार प्रकार  
मामा-यादा अविभाज्य स्वतथ पुद्गल परमाणु है, जैसा कि ऊरः  
पूर्वोत्तरी-दक्षी अन्य द्रव्यों के भी सूक्ष्मतम् वृद्धिक्रियत भाग  
होना चाहिया गया है। उग दृष्टि से परमाणु के चार प्रकार ये हैं-



आने वाली घटाओं से भर जाता है। वहाँ पर वादल रूप स्कन्धों का जम घट हो जाता है और कुछ ही क्षणों में वे विखर भी जाते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक स्कन्धों के निर्माण का क्या हेतु है?

यह दृश्य जगत्, जो पौद्गलिक है, परमाणु-सघटित है। परमाणु से स्कन्ध का निर्माण होता है और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ बनता है। पुद्गल में सधातक और विधातक ये दोनों गत्तियाँ हैं।<sup>१</sup> परमाणुओं के मेल से स्कन्ध का निर्माण होता है और एक स्कन्ध के विभक्त होने पर अनेक स्कन्ध हो जाते हैं। यह गलन और मिलन की जो प्रक्रिया है, वह प्राणी के प्रयोग से भी होती है और स्वाभाविक भी होती है। कारण यह है कि पुद्गल की अवस्थाये अनादि-अनन्त नहीं किन्तु सादि-सान्त है। यदि पुद्गल में वियोजन शक्ति का अभाव होता तो सब अणुओं का एक पिण्ड हो जाता और यदि सयोजन शक्ति का अभाव होता तो एक-एक अणु पृथक-पृथक रह कर कुछ भी नहीं कर सकते। अनन्त परमाणु का रक्तन्ध ही प्राणियों के लिए उपयोगी है।

जैन दार्शनिकों ने स्कन्ध-निर्माण की एक सुव्यवस्थित रासायनिक व्यवस्था प्रस्तुत की है, उसका रहस्य इस प्रकार है—

(१) परमाणु की स्कन्ध रूप परिणति में परमाणुओं की स्थिरता और स्थिरता एक मान कारण है।

(२) स्तिर्घ परमाणु का स्तिर्घ परमाणु के साथ में होने में रूप-निर्माण होता है। (यदि उन दोनों परमाणुओं की स्थिरता में अंतर हो तो अंतर हो जाता है)

(३) यह परमाणु का स्तिर्घ परमाणु के साथ में होने में रूप-निर्माण होता है। (यदि उन दोनों परमाणुओं की ऊक्तता में कम से कम अंतर हो तो)

(४) यह परमाणु के मिलन गति से रक्तन्ध निर्माण होता है।



पूर्व वताया जा चुका है कि परमाणु की गति अपने आप भी होती है और अन्य पुद्गलों की प्रेरणा से भी होती है। निष्क्रिय परमाणु कव गति करेगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह निश्चित है कि वह असत्यात् काल के पश्चात् अवश्य ही गति करेगा। सक्रिय परमाणु कव गति और क्रिया वन्द करेगा, यह अनियत है। एक समय से लेकर आवलिका<sup>१</sup> के असत्यात् भाग समय में, किसी भी समय वह गति एवं क्रिया वन्द कर सकता है। किन्तु आवलिका के असत्यात् भाग उपरान्त वह निश्चित रूप में गति क्रिया प्रारम्भ करेगा।

परमाणु-पुद्गल अप्रतिधाती है। वह सगीन लोह से निर्मित दीवान को महज रूप से पार कर सकता है। सुमेरु जैसे महान पर्वत भी उसे मार्ग में बाधक नहीं बनते। यहाँ तक कि वह वज्र को भी सहज रूप से पार कर सकता है। वह कभी-कभी प्रतिहत होता है तो इस स्थिति में कि विमान (ग्राभाविक) परिणाम में सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल का यदि किनी अन्य विम्ब्रणा परिणाम में सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल में आयतन मयोग हो तो ऐसी स्थिति में वह स्वयं भी प्रतिहत हो सकता है और यात्र ही अपने प्रतिपक्षी परमाणु को भी प्रतिहत कर सकता है।<sup>२</sup>

### परमाणुओं का सूक्ष्म परिणामावगाहन

परमाण की मध्ये विनष्टण शांति यह है कि जिस आकाश प्रदेश को २२ परमाण ने भर दिया है, उसी आकाश प्रदेश में दूसरा परमाण पूर्ण रूप से भी भर दिया है और उसी आकाश प्रदेश में सूक्ष्म एवं विम्ब्रणा प्रदोष भी यह सहता है। परमाणुओं की गृहण परि विम्ब्रणा द्वारा ही यह चमत्कार है। आचार्य पूज्यादान प्रारुदि द्वारा दिया गया उपका सम्यक् समानान उप प्रकार हिंदू धर्माणा धर्माण अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशी रूप।<sup>३</sup> दूसरा यहता है? उसमें हिंदू भी प्राप्ति ही द्वारा द्वारा शक्ति द्वारा गंगा में परमाण था।



कि कुछ तारे ऐसे हैं, जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओं में भी २०० गुणित है। एक स्थान पर एडिगर्टन ने लिखा है कि एक टन (३८ मन) न्यूट्रीय पुदगल (Nuclear Matter) हमारी वास्केट की जेव में भी सकता है। वैज्ञानिकों ने ऐसे तारे का अनुसंधान किया है जिसका घनत्व ६५ टन (१७३६० मन) प्रति घन इच्छ है। इतने अधिक घनत्व का कारण क्या है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं (Stripped Atoms) से निर्मित है, उनमें अणुओं में केवल व्यष्टियाँ ही हैं। कक्षीय कवच (Orbital Shells) नहीं। जैनदर्शन की भाषा में अणुओं का सूक्ष्म परिणमन ही इसका मूल कारण है।<sup>१</sup>

आधुनिक विज्ञान की ट्रिप्ट से परमाणु कितना सूक्ष्म है, उसका ज्ञान इससे लग सकता है कि पचास शख्स परमाणुओं का भार डोर्ड डार्ड तोने के लगभग होता है। इसका व्यास एक इच्छ का दस करोड़ हिस्सा है।

सिगरेट को लेपेटने के पतले कागज की मोटाई में एक में एक को सूखा कर रखने पर एक लाख परमाणु आ जायेगे।

शूल के एक नन्हे से कण में दस पदम में अधिक परमाणु होते हैं। नोटावाटर को ग्नास में डालने पर उसमें जो नन्ही-नन्ही निरन्तरी है उनमें में एक के परमाणुओं की परिणना करने के लिए तीन अरब व्यक्तियों को विठा दे और वे निरन्तर बिना राग, धीरे और मोँ: प्रति मिनिट यदि तीन सौ की रफतार से परिणना करे तो उम कर्मोँ: न परमाणुओं की ममृन्ती मरणा को पूर्ण करने में नार महीने का गम नहीं रहा।



(३) आहारक वर्गणा—योग-शवितजन्य शरीर के योग्य पुद्गल समूह ।

(४) तैजस वर्गणा—विद्युत-परमाणुओं का समूह ।

(५) कार्मण वर्गणा—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों का समूह, जिससे कार्मण नामक सूक्ष्म शरीर बनता है ।

(६) श्वासोच्छ्रवास वर्गणा—आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह ।

(७) वचन-वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह ।

(८) मनोवर्गणा—चिन्तन में सहायक होने वाला पुद्गल समूह ।

वर्गणा से अभिप्राय है एक जाति के पुद्गलों का समूह । पुद्गलों में ऐसी जातियाँ अनन्त हैं । यहाँ उनकी प्रमुख आठ जातियों का ही विवरण किया गया है । इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म होते हैं और अन्ति प्रचय वाले होते हैं । एक पीद्गलिक पदार्थ अन्य पीद्गलिक पदार्थ के रूप में बदल जाता है ।

जैन दृष्टि से वर्गणा का वर्गणान्तर रूप में परिवर्तन भी हो जाता है ।

ओदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस ये चार वर्गणाये अष्ट स्तरीय गुण राखते हैं । वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं । कार्मण, भाषा और मन में तीन वर्गणाये चतुर्थस्तरीय हैं—सूक्ष्म स्कन्ध है । इनमें श्रीत, उच्छ, स्तिर्ण, श्वासोच्छ्रवास वर्गणा चतुर्थस्तरीय और अष्टस्तरीय दोनों प्राप्ति की होती है ।



तीता और पाली चिपिटक साहित्य मे भी इस राग-द्वेष के छन्द को पाप का नुल कहा है।

**योग**—मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो मे जो परिस्पन्द होता है वह 'योग' है। योगभाष्य आदि ग्रथो मे चित्तवृत्ति के निरोध स्वप्न ध्यान के अर्थ मे योग गद्व व्यवहृत हुआ है किन्तु जैनदर्शन मे मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया, कर्म परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है एतदर्थ इसे योग कहा है और इसके निरोध को ध्यान कहा है। आत्मा सक्रिय है उसके प्रदेशो मे मन, वचन और काय के निमित्त से परिस्पन्द होता रहता है। प्रस्तुत क्रिया तेरहवे गुणस्थान मे भी होती रहती है। चौदहवे गुणस्थान मे अयोग अवस्था होती है। मन, वचन और काय की क्रिया का पूर्ण स्वप्न से निरोध होता है और आत्मा निर्मल व निश्चल वन जाता है। कर्मजन्य मलिनता और योग जन्य चबलता नष्ट होने पर मोक्ष होता है। योग आस्त्रव है, इससे कर्मों का आगमन होता है। शुभ योग से पुण्य का आस्त्रव होता है और अशुभ योग से पाप का।

### आस्त्रव के दो भेद

गामान्य स्वप्न मे आस्त्रव के दो भेद हैं, एक कपायानुरजित होने से गाम्यगति जाता है जो वन्धन का हेतु है। दूसरा योग से होने वाला 'र्द्दिर्द्वारा गाम्य जिम्मे कामाय का पूर्ण अभाव होने से वन्धन का पूर्ण अभाव 'मात्र अमी गो तो?' मगर टिकते नहीं है उनका स्थिति नव्य नहीं 'मात्र अमी गो तो?' मगर टिकते नहीं है उनका स्थिति नव्य नहीं। इसीलिए अग्रिमा, प्रमाद कपाय ये आन्तरिक दोष है। गाम्य जाग वाला वन्धन होता रहता है। योग आस्त्रव प्रवृत्त्यात्मक है अग्रिमा वाला प्रकार का होता है।







उसका पानी उलीच-उलीच कर बाहर फेक रहा है। दिन-रात अत्यधिक परिश्रम करता है। वह एक और से पानी निकाल रहा है दूसरी ओर से नाली के द्वारा पानी का प्रवाह चालू है। इस प्रकार दिन-रात के परिश्रम से जितना तालाब खाली होता है उसके बराबर या उससे अधिक पानी तालाब में भरता भी जा रहा है। इस रिथति मे कितना भी प्रयत्न या परिश्रम किया जाय किन्तु तालाब खाली होने की सभावना नहीं है। जब नालों को बन्द करके पानी उलीचा जायेगा, तभी तालाब खाली हो सकेगा।

प्रस्तुत स्वप्न सवर के लिए समझना चाहिये। आत्मा एक तालाब से सहश है। उसमे कर्म रूपी पानी भरा है। आख्यव रूप नालों से उसमे दिन-रात कर्म रूप पानी भरता ही रहता है। साधक तप आदि साधनों के द्वारा कर्म रूपी जल को उलीच-उलीच कर निकालने का प्रप्रास करता है। किन्तु जब तक कर्मों के आने के द्वार को बन्द नहीं करता तब तक कर्म जन में आत्म-सरोबर खाली नहीं हो सकता। उन नालों को बन्द करना मग्न तत्त्व है।

### संवर के प्रकार

नवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारिय मे होती है।<sup>१</sup> नवतत्त्व प्रकरण मे सवर की सिद्धि के लिए इनी चारनुओं का निर्देश किया है,<sup>२</sup> किन्तु क्रम मे कुछ अन्तर है।

मन्त्र ही मरण की अनेह परम्पराएँ प्राप्त हैं जैसे—

मरण मा मे गरग के पाँच भेद है<sup>३</sup>—

मरणा—पिगीन मान्यता से मुक्त होना।

मरणर—धरार के पापो का मर्वथा त्याग करना।

मरणर—पर्मे रे प्रति पूर्ण उन्माह होना।

मरणर—द्रोग, मान, माया, नोभ आदि कपायो का शम या श

<sup>१</sup> २०४



मेरे जीवन-पर्यन्त का भी। उसके इत्वरिक—कुछ निश्चित काल के लिए, अयावत्-कथिक—जीवन पर्यन्त के लिए, ये दो भेद हैं।<sup>१</sup>

इत्वरिक तप मेरे समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकाश्चा रहती है। इसलिए इस तप को सावकाक्ष तप भी कहा है और यावत्कथिक तप मेरे भोजन की कोई आकाश्चा शेष नहीं रहती इसलिए उसे निरवकाक्ष तप भी कहा है।<sup>२</sup>

इत्वरिक तप के नवकारसी, पीरसी, पूर्वाधि, एकाशन एकस्थान, आय-विल, दिवस चरिम, रात्रिभोजन त्याग, अभिग्रह, चतुर्थभवत, छटुभवत आदि अनेकानेक भेद हैं।<sup>३</sup>

यावत्कालिक अनशन के पादपोषगमन और भवतप्रत्यास्थान ये दो भेद हैं।<sup>४</sup> भवतप्रत्यास्थान मेरे आहार के त्याग के साथ सतत स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन मेरे समय विताया जाता है। साधक के मन मेरे सर्वोग नहीं होता। सदा समाधि व प्रसन्नता का भाव मुख पर जगमगाता रहता है। पादपोषगमन मेरे हूटे हुए वृक्ष की भाँति अच्चल-चेष्टा रहित, एक ही ध्यान पर जिग मुद्रा मेरे प्रारम्भ मे स्थिर हुआ, अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा मे नियर रहना यदि आँग गुली है तो उसे बन्द नहीं करना। पादपोषगमन ध्यान वही कर सकता है जिसका वज्रऋपभनाराच सहनन हो, अनशन ग्रीहार कर पर्वत शिगर के समान निश्चल रहना सरल नहीं है। आगमन-गहनन वाला उसे नहीं कर सकता। चौदह पूर्वों का विच्छेद होने पराग पादपोषगमन अनशन का भी विच्छेद हो जाता है।<sup>५</sup>

### ऊनोदरी

‘गोंगा रा रामग भेद ऊनोदरी है। ऊन—कम, उदर—पेट, गा—गूंगा रा रामोदरी है। गोंगी-कठी उगे अवमीदर्य भी कहा है। उगे ग्रा—गूंगा रा रामगी—ग्राहार भी कह गक्के है। आहार के समान काम,



उत्तेजना पैदा करने वाले होते हैं।<sup>१</sup> दूध, दही आदि रसों को विगय भी कहा है।

दूध, दही, घी आदि विगय क्यों हैं? इस प्रश्न का समाधान कर हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—इनके खाने से विकार पैदा होते हैं। उसके मनुष्य सयम से भ्रष्ट होकर विगति (दुर्गति) में जाता है। अतः ये पदार्थ सेवन करने वाले में विकृति एवं विगति दोनों के हेतु हैं। इस कारण इन विगड़ कहा जाता है।<sup>२</sup>

साधक के लिए पीप्टिक आहार सर्वथा वर्ज्य नहीं है। वह आवश्यकता-नुसार विगय आदि का सेवन भी करता है किन्तु वह उस रस का स्वाद नहीं लेता। स्वाद के लिए आहार को चवाना, चूसना आदि दोष हैं।<sup>३</sup> रस-त्याग के भी विविध रूप बताये हैं।

### कायवलेश

कायवलेश का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। एक कष्ट स्वकृत होता है और हमरा परकृत होता है। साधक शरीर पर आसक्त नहीं होता, वह आत्मा और शरीर को पृथक मानता है। आचार्य भद्रवाहु ने कहा—‘यह शरीर अन्य है आत्मा अन्य है। साधक इस प्रकार की तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुष्ट और क्लेश देने वाली शरीर की ममता का त्याग करता है।<sup>४</sup>

ग्रन्थादी साधक यह चिन्तन करता है—“जो दुख है, कष्ट है, वह मर जारी नहीं है, आत्मा को नहीं। कष्ट से शरीर को पीड़ा हो सकती है, इस विषय में जारी का नाश हा सकता है—आत्मा का नहीं—नतिय जीवगमन नहीं है।” आत्मा का ज्ञानदर्शनमय—चिन्मय स्था है। उसको कभी नहीं दर्शिया नहीं कर सकती। उसका कभी नाश नहीं हो सकता, कम नहीं हो सकता। यह प्रसार काट आने पर वह निज स्वरूप में रह जाएगा।



प्रायश्चित्त और दण्ड मे अन्तर है। प्रमादवश अनुचित कार्य कर ले पर मन मे पश्चात्ताप होना और उसकी शुद्धि के लिए गुरुजनो के साम स्वय का दोप प्रकट कर उसकी शुद्धि की प्रार्थना करना और गुरु जो शुद्धि वताये उसके अनुसार तपश्चरण आदि करना प्रायश्चित्त है। राजनीति और अपराधी को दण्ड दिया जाता है। प्रथम तो वह अपराध स्वीकार नहीं करत और कदाचित् स्वीकार भी कर ले तो उसके मन मे उसके प्रति पश्चात्ता और ख्लानि नहीं होती। यदि दण्ड मिल भी जाता है तो प्रसवतापूर्व उसका पालन नहीं करता।

प्रायश्चित्त के स्थानाङ्क मे दस प्रकार वताये हैं।<sup>१</sup> प्रायश्चित्त के दोपो का प्रकार लन होता है, हृदय विशुद्ध होता है। प्रायश्चित्त वही लेता है जिसका हृदय सरल होता है।

### विनय

विनय का सम्बन्ध हृदय से है। वह आत्मिक गुण है। जैन साहित्य मे विनय शब्द तीन अर्थो मे व्यवहृत हुआ है।

(१) विनय—अनुशासन।

(२) विनय—आत्मसंयम—शील—सदाचार।

(३) विनग—नम्रता एव सदव्यवहार।

स्थानाग वृत्ति मे आचार्य अभयदेव ने लिखा है—जिससे आठ कार्य नय (विनग-दूर होना) होता है, अर्थात् विनय आठो कर्मो को दूर करता है, उगमे नार गति का अन्त होकर मोक्ष गति प्राप्त होती है।<sup>२</sup>

प्राचीनमार्गदार की वृत्ति मे लिखा है—विनयति क्वोषकार्कम्॥  
प्राचीनमें उत्तीर्णिनग्” कोष पैदा करने वाले अष्टकर्म शत्रुओ को जो  
दूर करता है।

प्राचीन नारि आगम माटित्य मे ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारि॥

प्राचीन वर्तनविनय, कायविनय और लोकोपचार विनय आहि॥  
तीन प्रधार वाढते।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> १०१-१०२, १०३

<sup>२</sup> १०३-१०४,

<sup>३</sup> १०४-१०५

<sup>४</sup> १०५-१०६, १०७) स्वामी, (ग) वौलालिता नामां।



विचारोत्तेजक पुस्तकों का पठन भी लाभप्रद नहीं अपितु हानिकर है। उस से मन दूषित होता है और जीवन विकृत होता है। अत पढ़ते समय विवेक की आवश्यकता है। कम पढ़ो किन्तु सुन्दर पढ़ो जिससे सद् विचार जागृत हो।

स्वाध्याय से समस्त दुखों से मुक्ति मिलती है।<sup>१</sup> जन्म-जन्मान्तरों के सचित कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं।<sup>२</sup> स्वाध्याय अपने आप में वहत बड़ी तपस्या है। आचार्य सधादासगणी ने कहा है—स्वाध्याय एक अभूतप्रबं तप है। इसके समान तप न अतीत में कभी हुआ है, न वर्तमान में है और न भविष्य में कभी होगा।<sup>३</sup>

वैदिक ऋषि ने भी कहा है—‘तपोहि स्वाध्याय’<sup>४</sup> स्वाध्याय ता है। स्वाध्याय में कभी भी प्रमाद न करो।<sup>५</sup> दीवाल को पुन पुन धुर्याँ करने पर वह चिकनी हो जाती है उसके सामने जो भी प्रतिविम्ब आता है वह उसमें झलकने लगता है, वैसे ही सतत स्वाध्याय से मन इतना निर्मल और पारदर्शी हो जाता है कि शास्त्रों का रहस्य उसमें प्रतिविम्बित होने न गता है। आचार्य पतञ्जलि ने तो यहाँ तक कहा है कि ‘स्वाध्याय से उट देवता का माथात्कार होने लगता है।<sup>६</sup>

स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मस्थान पांच भेद बताए हैं।<sup>७</sup>

### ध्यान

मन को एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—  
“मन में (रूप में) मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।”<sup>८</sup> आगामी

१११. २३१ रित्येग मात्रुमाविगामाणां।

—उत्तरा० २३१०

११२३ मर्त्या० २४० मर्त्याग्राम याणे गवद।

—नन्दप्रगति ६१

११२४ विश्व इन॑११ वहारी मर्त्याग्राम याणे गवद।—गृहतक्तपगामा० १११०

११२५ न दृष्ट्वा० २४५

११२६ न दृष्ट्वा० २४६

—गृहतक्तपगामा० १११०

११२७ न दृष्ट्वा० २४७

—गृहतक्तपगामा० १११०

११२८ न दृष्ट्वा० २४८

११२९ न दृष्ट्वा० २४९

११३० न दृष्ट्वा० २५०

११३१ न दृष्ट्वा० २५१

११३२ न दृष्ट्वा० २५२

११३३ न दृष्ट्वा० २५३

११३४ न दृष्ट्वा० २५४

११३५ न दृष्ट्वा० २५५

११३६ न दृष्ट्वा० २५६

११३७ न दृष्ट्वा० २५७

११३८ न दृष्ट्वा० २५८

११३९ न दृष्ट्वा० २५९

११४० न दृष्ट्वा० २६०

११४१ न दृष्ट्वा० २६१

११४२ न दृष्ट्वा० २६२

११४३ न दृष्ट्वा० २६३

११४४ न दृष्ट्वा० २६४

११४५ न दृष्ट्वा० २६५

११४६ न दृष्ट्वा० २६६

११४७ न दृष्ट्वा० २६७

११४८ न दृष्ट्वा० २६८

११४९ न दृष्ट्वा० २६९

११५० न दृष्ट्वा० २६१०

११५१ न दृष्ट्वा० २६११

११५२ न दृष्ट्वा० २६१२

११५३ न दृष्ट्वा० २६१३

११५४ न दृष्ट्वा० २६१४

११५५ न दृष्ट्वा० २६१५

११५६ न दृष्ट्वा० २६१६

११५७ न दृष्ट्वा० २६१७

११५८ न दृष्ट्वा० २६१८

११५९ न दृष्ट्वा० २६१९

११६० न दृष्ट्वा० २६२०

११६१ न दृष्ट्वा० २६२१

११६२ न दृष्ट्वा० २६२२

११६३ न दृष्ट्वा० २६२३

११६४ न दृष्ट्वा० २६२४

११६५ न दृष्ट्वा० २६२५

११६६ न दृष्ट्वा० २६२६

११६७ न दृष्ट्वा० २६२७

११६८ न दृष्ट्वा० २६२८

११६९ न दृष्ट्वा० २६२९

११७० न दृष्ट्वा० २६३०

११७१ न दृष्ट्वा० २६३१

११७२ न दृष्ट्वा० २६३२

११७३ न दृष्ट्वा० २६३३

११७४ न दृष्ट्वा० २६३४

११७५ न दृष्ट्वा० २६३५

११७६ न दृष्ट्वा० २६३६

११७७ न दृष्ट्वा० २६३७

११७८ न दृष्ट्वा० २६३८

११७९ न दृष्ट्वा० २६३९

११८० न दृष्ट्वा० २६३१०

११८१ न दृष्ट्वा० २६३११

११८२ न दृष्ट्वा० २६३१२

११८३ न दृष्ट्वा० २६३१३

११८४ न दृष्ट्वा० २६३१४

११८५ न दृष्ट्वा० २६३१५

११८६ न दृष्ट्वा० २६३१६

११८७ न दृष्ट्वा० २६३१७

११८८ न दृष्ट्वा० २६३१८

११८९ न दृष्ट्वा० २६३१९

११९० न दृष्ट्वा० २६३२०

११९१ न दृष्ट्वा० २६३२१

११९२ न दृष्ट्वा० २६३२२

११९३ न दृष्ट्वा० २६३२३

११९४ न दृष्ट्वा० २६३२४

११९५ न दृष्ट्वा० २६३२५

११९६ न दृष्ट्वा० २६३२६

११९७ न दृष्ट्वा० २६३२७

११९८ न दृष्ट्वा० २६३२८

११९९ न दृष्ट्वा० २६३२९

१२०० न दृष्ट्वा० २६३३०

१२०१ न दृष्ट्वा० २६३३१

१२०२ न दृष्ट्वा० २६३३२

१२०३ न दृष्ट्वा० २६३३३

१२०४ न दृष्ट्वा० २६३३४

१२०५ न दृष्ट्वा० २६३३५

१२०६ न दृष्ट्वा० २६३३६

१२०७ न दृष्ट्वा० २६३३७

१२०८ न दृष्ट्वा० २६३३८

१२०९ न दृष्ट्वा० २६३३९

१२१० न दृष्ट्वा० २६३३१०

१२११ न दृष्ट्वा० २६३३११

१२१२ न दृष्ट्वा० २६३३१२

१२१३ न दृष्ट्वा० २६३३१३

१२१४ न दृष्ट्वा० २६३३१४

१२१५ न दृष्ट्वा० २६३३१५

१२१६ न दृष्ट्वा० २६३३१६

१२१७ न दृष्ट्वा० २६३३१७

१२१८ न दृष्ट्वा० २६३३१८

१२१९ न दृष्ट्वा० २६३३१९

१२२० न दृष्ट्वा० २६३३२०

१२२१ न दृष्ट्वा० २६३३२१

१२२२ न दृष्ट्वा० २६३३२२

१२२३ न दृष्ट्वा० २६३३२३

१२२४ न दृष्ट्वा० २६३३२४

१२२५ न दृष्ट्वा० २६३३२५

१२२६ न दृष्ट्वा० २६३३२६

१२२७ न दृष्ट्वा० २६३३२७

१२२८ न दृष्ट्वा० २६३३२८

१२२९ न दृष्ट्वा० २६३३२९

१२३० न दृष्ट्वा० २६३३३०

१२३१ न दृष्ट्वा० २६३३३१

१२३२ न दृष्ट्वा० २६३३३२

१२३३ न दृष्ट्वा० २६३३३३

१२३४ न दृष्ट्वा० २६३३३४

१२३५ न दृष्ट्वा० २६३३३५

१२३६ न दृष्ट्वा० २६३३३६

१२३७ न दृष्ट्वा० २६३३३७

१२३८ न दृष्ट्वा० २६३३३८

१२३९ न दृष्ट्वा० २६३३३९

१२३१० न दृष्ट्वा० २६३३३१०

१२३११ न दृष्ट्वा० २६३३३११

१२३१२ न दृष्ट्वा० २६३३३१२

१२३१३ न दृष्ट्वा० २६३३३१३

१२३१४ न दृष्ट्वा० २६३३३१४

१२३१५ न दृष्ट्वा० २६३३३१५

१२३१६ न दृष्ट्वा० २६३३३१६

१२३१७ न दृष्ट्वा० २६३३३१७

१२३१८ न दृष्ट्वा० २६३३३१८

१२३१९ न दृष्ट्वा० २६३३३१९

१२३२० न दृष्ट्वा० २६३३३२०

१२३२१ न दृष्ट्वा० २६३३३२१

१२३२२ न दृष्ट्वा० २६३३३२२

१२३२३ न दृष्ट्वा० २६३३३२३

१२३२४ न दृष्ट्वा० २६३३३२४

१२३२५ न दृष्ट्वा० २६३३३२५

१२३२६ न दृष्ट्वा० २६३३३२६

१२३२७ न दृष्ट्वा० २६३३३२७

१२३२८ न दृष्ट्वा० २६३३३२८

१२३२९ न दृष्ट्वा० २६३३३२९

१२३३० न दृष्ट्वा० २६३३३३०

१२३३१ न दृष्ट्वा० २६३३३३१

१२३३२ न दृष्ट्वा० २६३३३३२

१२३३३ न दृष्ट्वा० २६३३३३३

१२३३४ न दृष्ट्वा० २६३३३३४

१२३३५ न दृष्ट्वा० २६३३३३५

१२३३६ न दृष्ट्वा० २६३३३३६

१२३३७ न दृष्ट्वा० २६३३३३७

१२३३८ न दृष्ट्वा० २६३३३३८

१२३३९ न दृष्ट्वा० २६३३३३९

१२३४० न दृष्ट्वा० २६३३३३१०

१२३४१ न दृष्ट्वा० २६३३३३११

१२३४२ न दृष्ट्वा० २६३३३३१२

१२३४३ न दृष्ट्वा० २६३३३३१३

१२३४४ न दृष्ट्वा० २६३३३३१४

१२३४५ न दृष्ट्वा० २६३३३३१५



होने वाला स्वरूप लाभ ! ही मोक्ष है ।<sup>१</sup> आत्मा का अभाव या चेतना का उच्छ्रेद कदापि मोक्ष नहीं हो सकता । रोग की निवृत्ति का अर्थ आरोग्य-लाभ है न कि रोगी की निवृत्ति या समाप्ति है ।

### ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छ्रेद नहीं

वैशेषिकदर्शन बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सर्स्कार इन नव विशेष गुणों के उच्छ्रेद को मोक्ष मानता है । उससे यह मन्तव्य है कि इन विशेष गुणों की उत्पत्ति आत्मा और मन के सयोग से होती है । मन के सयोग के नष्ट हो जाने से वे गुण मोक्ष अवस्था में समुत्पन्न नहीं होते जिससे वह निर्गुण हो जाता है । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सर्स्कार और सासारिक सुख-दुख से सभी कर्मजन्य अवस्थाएँ हैं । अत मोक्ष में उनकी सत्ता नहीं रहती किन्तु बुद्धि—ज्ञान, जो आत्मा का निजगुण है उसका सम्पूर्ण रूप से उच्छ्रेद किस प्रकार माना जा सकता है । जो नसार अवरथा में मन और इन्द्रिय के सयोग से स्वत्प ज्ञान होता था वह मोक्ष में नहीं होता किन्तु जो स्वरूप भूत चेतन्य है, इन्द्रिय और मन से परे है उसका उच्छ्रेद किसी भी प्रकार नहीं हो सकता । वैशेषिकदर्शन निर्वाण अवस्था में आत्मा की रवस्परिथति मानता है और वह स्वत्प उमाता इन्द्रियातीन चेतन्य है । सर्सार अवस्था में वही चेतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदि के निमित्त से विविध विषय वाली बुद्धि के रूप में परिणति होता है परं जब उन उपाधियों में मुक्त हो जाता है तो ग्रन्थ-स्वरूप में तीन गोंगा ग्रामांक हैं । जीनदर्शन भी कर्म के धगोपशम से समुत्पन्न धारो-परमिता ज्ञान और कर्मजन्य मुरा-दुखादि का निनाश मोक्ष अवस्था में है । इस ज्ञानादि गुण का नहीं ।<sup>२</sup>

### निर्वाण

ग्रन्थमें मोक्ष ग्रन्थ का अधिक प्रयोग हआ है । उमागोंगी ॥  
ग्रन्थमें ग्रन्थ गोंगा है । अनादि कान में जिन कर्मों गे आत्मा आरोग्य-  
दाता है । ग्रन्थमें ग्रन्थ गोंगा है । वन्धन के कट जाने पर आत्मा पर्व  
ग्रन्थ-वर्ते जाना है । बोद्ध परमाणुमें निर्वाण गोंगा है ॥

ग्रन्थमें ग्रन्थ गोंगा है ।  
ग्रन्थमें ग्रन्थ गोंगा है ।  
ग्रन्थमें ग्रन्थ गोंगा है ।

ग्रन्थमें ग्रन्थ गोंगा है ।



को प्राप्त कर अव्यावाध सुख के धनी होते हैं। सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करते हें कारण वे सिद्ध हैं। सर्वतस्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं। सासार समुद्र को पार करने के कारण पारगत हैं। हमेशा सिद्ध रहेगे अतः परम्परागत है। जन्म-जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हैं। वे अव्यावाध मुख का अनुभव करते हैं।

उत्तराध्ययन मूल में भी कहा है कि लोक के अग्रभाग पर पहुँचका जीव परम सुखी होता है।

मोक्ष आत्म-विकास की चरम एवं पूर्ण अवस्था है। पूर्णता में किसी प्रकार का भेद नहीं होता, अतः मुक्तात्माओं में भी कोई भेद नहीं है। प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान, दर्थन और अनन्तगुणों से परिपूर्ण है। सिद्धों में जो पन्द्रह भेदों की कल्पना की गई है वह केवल लोक-व्यवहार की हृषि से है, किन्तु मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं है।



आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—‘स्यात्’ शब्द सत्य का प्रतीक है।<sup>१</sup> और इसी कारण जैनाचार्यों का यह कथन है कि जहाँ कही रयात् शब्द का प्रयोग न हप्टिगोचर हो वहाँ भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिये।<sup>२</sup>

स्याद्वाद-हप्टि विविध अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में नित्यता-अनित्यता, सहश्राता-विसहश्राता, वाच्यता-अवाच्यता, सत्ता-असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका मुन्द्र एवं बुद्धिसंगत समन्वय प्रस्तुत करती है।<sup>३</sup>

साधारणतया स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कह दिया जाता है, किन्तु मूर्ख हप्टि में विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। अनेकान्तात्मक वस्तु को भापा द्वारा प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।<sup>४</sup> इस प्रकार स्याद्वाद थ्रुत है और अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट किया है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक हैं। भेद इतना ही है कि केवलज्ञान वस्तु का साधारण ज्ञान कराता है जब कि स्याद्वाद थ्रुत होने से असाधारण ज्ञान कराता है।<sup>५</sup>

### समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

जगन् की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में जो परस्पर विरुद्ध निरार प्रभनुन तिने गये हैं, उनका अध्ययन करने पर जिज्ञासु को घोर निराशा होना ‘आमार्दित’। उन निरागों में एक पूर्व की ओर जाता है तो दूसरा परिणाम होता है। ऐसी स्थिति में जिज्ञासा अपनी आस्था रिथर करे तो किम पर? दूसरी ओर किंगे अनामतविकासीकार करे? आमिर गे दार्शनिक दृष्टियां दृष्टियां नहीं होती हैं। आत्मा जैसे मूनतत्त्व ने गम्भीर आत्माका आत्माका पाताल का अन्तर है। चार्वाकदर्शन आत्म-

<sup>१</sup> तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् । — वर्णीयराय, ११० ॥

<sup>२</sup> तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् । — वर्णीयराय, १११ ॥

<sup>३</sup> तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् । — वर्णीयराय, ११२ ॥

<sup>४</sup> तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् । — वर्णीयराय, ११३ ॥

<sup>५</sup> तत्त्वात् तत्त्वात् तत्त्वात् । — वर्णीयराय, ११४ ॥



का उपशमन हो जाता है। अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समरयाओं, उल्लङ्घनों और भ्रमणाओं के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। अपेक्षा विशेष से पिता को पुत्र, पुत्र को भी पिता, छोटे को भी बड़ा, बड़े को भी छोटा यदि कहा जा सकता है, तो अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही। अनेकान्तवाद वह न्यायाधीश है जो परस्पर-विरोधी दावेदारों का फैसला बड़ी मुन्द्र ढग से करता है और जिससे वादी और प्रतिवादी दोनों को ही न्याय मिलता है। पूर्वकालीन महान् दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अनन्द हरिभद्र आदि ने अनेकान्तदृष्टि का अवलम्बन करके ही सत्त्व-अमन्त्र नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विरोधी वादों का तर्कसंगत समन्वय किया और विचार की एक शुद्ध, व्याप्ति-वृद्धिसंगत और निष्पक्ष दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टि से देखने पर नड़िएव एकाग्री वस्तु के स्थान पर हमें सर्वाङ्गीण परिपूर्ण वस्तु दृष्टिगोनर होना लगती है। अनेकान्तदृष्टि विरोध का शमन करने वाली है, उसी कारण वह पूर्ण सत्य की ओर ले जाती है।

वह पूर्ण सत्य का थार ले जाता है।  
अनेकान्तवाद की इस विशिष्टता को हृदयगम करके ही जैन-दार्शनिक  
ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। वस्तुत वह समस्त दार्शनिकों  
का जीवन है, प्राण है। जैनाचार्यों ने अपनी समन्वयात्मक उदार भावना  
का परिनय देते हुए कहा है—एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं, किन्तु तुद्धिगत  
धर्म ही है। जब तुद्धि शुद्ध होती है तो एकान्त का नामनिशान नहीं रहता।  
दार्शनिकों की भी समस्त वृष्टियाँ अनेकान्त हृष्टि में उसी प्रकार निरीन हैं  
जैसे जैन विभिन्न दिशाओं से आने वाली सरिताएँ सागर में पहाड़ी  
हो जाती हैं।

प्रगति तिरान उपाध्याय यशोविजयजी के शन्दो में कहा जा गता है—‘मैं अनेकान्तवादी लिमी भी दर्शन से होए नहीं कर सकता। मैं इस दर्शनों को उम प्रकार वात्यगल्य की हस्ति में देखता हूँ जैसे कि मैं इस दुखों को देखता हूँ। अनेकान्तवादी न लिमी को लग दी तो वह अप्रदर्शन सम्भव क्या?—उमाता सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव में यह एक बड़ा राजा अधिकारी वही है जो अनेकान्तवादी तो

१२५ वा, अस्त्रिकामी वा । वेष ।  
१२६ वा, अस्त्रिकामी वा ॥



एकान्त के गन्दले पोखर से दूर रहकर अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर में अवगाहन करना ही उचित है।

स्याद्वाद का उदार हिंटिकोण अपनाने से समस्त दर्शनों का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

### अन्य दर्शनों पर अनेकान्त की छाप

अनेकान्तवाद सत्य का पर्यावाची दर्शन है। यद्यपि कठिपथ भारतीय दार्शनिकों ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है, मगर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनों पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप में अकित है। असल में यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धिसगत सिद्धान्त है कि इसकी सर्वाङ्ग अपेक्षा की ही नहीं जा सकती।

ईशावास्योपनिषद् में आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है—'तदेजति, तन्नेजति, तद्दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्यसर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य वाहत्। अर्यात् आत्मा चलती भी है और नहीं भी चलती है, दूर भी है, समीर भी है, वह सब के अन्तर्गत भी है, वाहर भी है।

क्या वे उद्गार स्याद्वाद से प्रभावित नहीं हैं? भले ही शक्तराजाँ और रामानुजाचार्य एक वस्तु में अनेक धर्मों का अस्तित्व असम्भव कहार स्याद्वाद का विरोध करते हैं, मगर जब वे अपने मन्त्रव्य का निरपण करते हैं तब स्याद्वाद के असर से वे भी नहीं बच पाते। उन्हे भी अनन्यगत राजाराजाँ और प्रतिभाग्यगत्य के रूप में जो व्याप्त्या प्रस्तुत की है, उन्होंने दो तुनिंदी होती है। वे कहते हैं—'हृष्ट किमपि लोकेऽप्यत् ॥ इति न निर्गाम ।' अर्थात् उम लोक में दिग्गार्ड देने वाली कोई भी कर्ता न हो। और न निर्गाम है। आशय यह हुआ कि प्रत्येक वर्गनु में किसी भावा को न निर्गाम करना अवश्यक गणे गुण भी है। यह अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद, अनेकान्तान्तः।

इसी दर्शन-दर्शनी से पूछा गया—'आग विद्युत है या ना?'—'दार्शनिक देश में विद्युत और व्यापारि ॥ इसी दर्शन-दर्शन नहीं नो क्या है?



नहीं है, केवल विवक्षाभेद है। अनेकान्तर्दर्शन के अनुसार प्रत्येक सत्‌पत्‌यं उत्पाद-व्यय-व्रीव्यात्मक है, अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता है भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नहीं है।<sup>१</sup>

जब कभी कोई पूर्व परिचित व्यक्ति हमारे समक्ष उपस्थित होता है तब हम कहते हैं 'यह वही है।' वर्षा होते ही भूमि शश्य-श्यामला हो जाती है, तब हम कहते हैं—हरियाली उत्पन्न हो गई। हमारे हाथ में कपूर है यह देखते-ही देखते उड़ जाता है, तब हम कहते हैं, वह नष्ट हो गया। 'वह वही है'—यह नित्यता का सिद्धान्त है। 'हरियाली उत्पन्न हो गई'—फूल उत्पत्ति का सिद्धान्त है और 'वह नष्ट हो गया'—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परिणामवाद, आरम्भवाद और सहृदयवाद आदि अनेक विचार हैं। उसके विनाश के सम्बन्ध में भी ह्यान्तरण विच्छेदवाद आदि अनेक अभिमत हैं। सांख्यदर्शन परिणामवादी है, वह कार्य को अपने कारण में सत् मानता है। सत् कर्मवाद के अभिमतानुसार जो अन्त है उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो सत् है उसका विनाश नहीं होता, किन्तु केवल ह्यान्तर होता है। उत्पत्ति का तात्पर्य है—सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का तात्पर्य है—सत् की अव्यक्ति। न्याय-वैशेषिकदर्शन आरम्भ वादी है। वह कार्य को अपने कारण में सत् नहीं मानता। असत् कार्यसे के मतानुसार असत् की उत्पत्ति होती है और सत् का विनाश होता है। ए दर्शन ही नैयायिक ईश्वर को कृष्टस्थनित्य और दीपक को सर्वथा अनियानन्द है। वौद्धदर्शन के अनुसार स्थूल द्रव्य सूक्ष्म अवयवों का समूह है, तो इसका धर्मनियम है। उनके विचारानुसार कुछ भी स्थिति नहीं है। तो दर्शन पारानन नियमाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष हैं तो अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। और जो दर्शन एकान्त अग्नियाद है, तो भी जो हमारे प्रत्यक्ष हैं उस स्थिति की उपेक्षा नहीं है। एकादशी नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनिय भानाह की विचारों की ओर बोलों ने मनतति भानकर उनके प्राप्ति

“१८ विनाशि स्पान्तरवाद के गिरावंत को एकमत में उदी”  
“१९ मानवता है, जनते पर कुछ ही शरणों में उमा”



से विवेचना है। उस विश्व में ऐसा द्रव्य नहीं जो सर्वथा श्रुत हो, और ऐसा भी द्रव्य नहीं है जो सर्वथा परिवर्तनशील ही हो। दीपक, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है और जीव जो स्थायी है, वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व और परिवर्तनशीलता की वृष्टि से जीव और दीपक में कोई अन्तर नहीं है।<sup>१</sup>

केवल रिथति ही होती तो सभी द्रव्यों का एक ही रूप रहता, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। केवल उत्पाद और व्यय ही होता तो केवल उनका क्रम होता किन्तु स्थायी आधार के अभाव में उनमें कुछ भी रूप नहीं होता। कर्तृत्व, कर्म और परिणामी की कोई विवेचना नहीं होती। स्याद्वाद की वृष्टि से परिवर्तन भी है और उसका आधार भी है। परिवर्तनरहित किसी भी प्रकार का स्थायित्व नहीं है और स्यामिय रहित किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं है। अर्थात् परिवर्तन स्थायी में होता है और स्थायी वही हो सकता है जिसमें परिवर्तन हो। सारांश है कि निष्क्रियता और मक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज ममन्वित रूप है उसे ही द्रव्य कहा गया है। अपने केन्द्र में प्रत्येक द्रव्य श्रुत, स्थिर और निष्क्रिय है। उसके चारों ओर परिवर्तन की एक शृणुता है जिसे हम परमाणु की रचना से समझ सकते हैं। विज्ञान के अनुसार आपनी रचना तीन प्रकार के कणों से मानी गई है—(१) प्रोटोन (२) इन्ड्रोन (३) न्यूट्रोन। धनात्मक कण प्रोटोन है। परमाणु का वह मध्यनिन्दु होता है। अपात्मक रूप इन्ड्रोन है। यह धनाणु के चारों ओर परिक्रमा करता है। उदासीन कण न्यूट्रोन है।

### आत्मा का शरीर से भेदभेद

“गा या शरीर में भिन्न है अथवा अभिन्न है, उस विषय में भी दर्शन है।” १२३१ : १२३५ पितॄय प्रश्नार के उपग्रह छोने हैं। जार्वादर्शन आत्मा उसके लिए शीघ्र नहीं करना। वह शरीर में चेतना की उपर्युक्त धनात्मक रूप इन्ड्रोन है। यह धनाणु का भी विनाश ले जाता है।

<sup>१</sup> अनुवाद : अमर रमाण

—१२३१ : १२३५ अनु.

—१२३१ : १२३५

—१२३१ : १२३५ प्रथम ॥

प्रथम भाग १२३१ : १२३५



द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये चारों चतुष्टय कहलाते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्ववान् है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है।<sup>1</sup>

उदाहरण के लिए एक स्वर्णघट को लीजिए। वह स्वर्ण का बना है। यह स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व है। वह जिस क्षेत्र अर्थात् स्थान में रखा है, उस क्षेत्र की अपेक्षा से है। जिस काल में उसकी सत्ता है, उस काल की अपेक्षा से है। उसमें जो पीत वर्ण आदि अनेक पर्याय विद्यमान हैं, उनमें अपेक्षा से है। किन्तु वही घट मृत्तिकाद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। अन्य क्षेत्र की अपेक्षा में भी नहीं है। कालान्तर की अपेक्षा से भी नहीं है। मृणवां आदि पर्यायों में भी उसमें अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार स्वर्णघट से नहीं है, मृत्तिका आदि का नहीं है। अमुक क्षेत्र में है, अन्य क्षेत्र में नहीं है। जिस काल में है उसके अतिरिक्त अन्य काल की अपेक्षा से नहीं है। वह अन्य स्वपर्यायों से है, पर-पर्यायों से नहीं है। इस प्रकार स्वचतुष्टय और परन्तुष्टय की अपेक्षा उसमें अस्तित्व और नास्तित्व सहज ही घटित होते हैं।

कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म ममता कर ए ही वस्तु में दोनों का गमन्य असम्भव मानते हैं। मगर वे भूल जाते हैं कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विवान किया जाय तभी उनमें विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओं से विवान करने में कोई विरो नहीं होता। हिमी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि यह मनुष्य ? मनुष्योंनग नहीं है, भारतीय है, पाष्ठोत्त्व नहीं है, वर्तमान में है, मरण में मरण नहीं आता नहीं है, विद्याय है, सूर्य नहीं है, तो क्या हम ज ऐसा ही विषय में परम्पराविशद्व विवान करते हैं? नहीं। यह विषय हमारा अपितु व्यवहारगत भी है। हम प्रतिदिन इसी प्रकार इसी रूप से है। ऐसा व्यवहार किये जिनकी वस्तु का निश्चय नहीं है। 'यह पुराना?' ऐसा निश्चय तो तभी मगव है, जो हमारा 'यह पुराना' अनिरिक्त अन्य कथ्य नहीं है।

“ ते द्वारा से प्रत्यक्ष पदार्थ मत और असत् इस प्रकार है।”  
“ यह क्या है। मगर जीनाचार्या ने उग विचार को गुण”



पश्चाद्वर्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हेमनन्द, वादिदेव आदि ने उसका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रति पादन-क्रम को कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद या सप्तभगी का विकासक्रम समझा है किन्तु तथ्य यह है कि जैन तत्त्वज्ञान सर्वज्ञमूलक है। सर्वत्र सर्वदर्गी तीर्थङ्करों के ज्ञान में जो तत्त्व प्रतिभासित होता है, उसी को उन्होंने प्रधान शिष्य शब्दवद्ध करते हैं<sup>1</sup> और फिर उनके शिष्य-प्रशिष्य उसमें एक-एक अग का आधार लेकर युग की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों की रचना करते हैं। इस प्रकार तत्त्वविवेचन का क्रम आगे बढ़ता है। इस विवेचनक्रम को तत्त्व का विकासक्रम समझ लेना युक्तिसार नहीं है।

इस युग मे प्रथम तीर्थद्वार ऋषभदेव हुए हैं। उन्होने जो उपरेक्षा किया वही उनके पश्चात् होने वाले तेईस तीर्थद्वारों ने किया। वही उपरेक्षा कालक्रम से उनके अनुयायी विभिन्न आचार्यों द्वारा जैन साहित्य मे निर्गम यद्ध किया गया है। किसी भी विपय का सक्षिप्त या विस्तृत विवेचन उसके नेतृत्वक की सक्षेपहृचि अथवा विस्तारहृचि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त युग की विचारधारा भी उसे प्रभावित करती है। सासांतीर ने दाय निरु माहित्य मे ऐसा भी होता है कि कोई लेखक जब किसी विपय के गति गति गति करता है तो अपने समय तक के विरोधी विचारों का उसमे उत्तरण करता है और अपने हटिकोण के अनुसार उनका निराकरण भी होता है। जैन दार्शनिक साहित्य मे भी यह प्रत्युत्ति स्पष्ट हटिगोना होती है। इस प्राचीनकाल को अगर कोई मूल तत्त्व का विलामक्रम समझते हैं तो उसकी गति ही कही जाएगी।

पर्याप्ति विद्याम आनि० जो उन्हे उसी भूल के शिकार होते हैं।  
स्यादादर से निष्पाणक्रम को स्यादाद का विलासक्रम समाप्त किया जाता है।  
उन्होंने उन्होंकी मुहिट कर रखी है। जब उन्होंने स्यादाद से अभी  
भावात् पता लिया है तो दुगमी भूल यह हो गयी कि वे गाँवी  
स्यादादिनाम का अनुकरण अथवा विलास समाप्त हो जाएँगे।  
इसी बहुत अर्थात् अनन्त है।



सप्तभगी मे पदार्थों के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया गया है, सिंचन उसके स्वरूप की नियतता प्रदर्शित करने के लिए यह दिखलाया गया है जिस वह पर-रूप मे नहीं है। सप्तभगीवाद हमे सतरगी पुष्पों से सुशोभित विचार वाटिका मे विहार कराता है, तो वीद्वो का निषेधवाद पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर के शून्य के घोर एकान्त अन्धकार मे ले जाता है। अब उसको कोई आधार प्रदान नहीं करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि सप्तभगी का वीद्वो के चतुष्कोटि निषेध के साथ लेशमात्र भी सरोकार नहीं है।

### स्याद्वाद संशयवाद नहीं

जैनदर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मा है। अनन्त धर्मात्मकता के बिना किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना ही सम्भव नहीं है किन्तु एक साथ अनन्त धर्मों का निर्वचन नहीं हो सकता। दूसरे धर्मों का विवान और निषेध न करते हुए किसी एक धर्म का विवान करते ही स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, यह स्याद्वाद है। इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि स्वचतुष्टय से घट की सत्ता निश्चिन्त है और परचतुष्टय से घट की असत्ता निश्चित है। इस कथन मे साशय को कोई स्पान नहीं है। किन्तु 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को देखकर, स्याद्वाद की गहराई मे न उत्तरने वाले कुछ लोग, यह अमपूर्ण धारणा बना लेते हैं कि स्याद्वाद अनिश्चय की प्रस्तुपणा करता है।

‘स्यात् स्यात्’ शब्द का अर्थ न ‘शायद’ है, न ‘सम्भवत्’ है और न ‘असम्भवत्’ जैगा हो है। नहूं तो एक सुनिश्चित सापेक्ष वृष्टिरौपण का शीर्ष है। प्रो॰ रादेंग उपाध्याय ने निरादे—‘अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं है।’ परं। उमे ‘सम्भवत्’ के अर्थ मे प्रयुक्त करना चाहते हैं, मगर गहरी भी नहीं।

रागचार्य ने बान भाष्य मे स्याद्वाद को गशगवाद उठाया है। उसमा उल्लंघन की थी, उमसी परम्परा अन भी बहुत अश्वा मे नहीं। फिर उपर्युक्त अधिकारी ने आचार्य शाहर की थार। फिर—“मेन्यम्” स्याद्वाद गिद्धान्त को जिता।

—१२१—  
—१२२—

—१२३—



सकता ।<sup>१</sup> किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समझ यह आरोप हास्यारपद ही ठहरता है। आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता—‘आप कौन है?’ तो वे उत्तर देते—‘मैं सन्यासी हूँ।’ पुन प्रश्न किया जाता—‘आप गृहस्थ हैं या नहीं?’ तो वे कहते—‘मैं गृहस्थ नहीं हूँ।’ अब तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता—आप ‘हूँ’ भी और ‘नहीं’ भी कहते हैं, इस परस्पर विरोधी कथन का क्या आधार है? तब आचार्य को अन्यगत्या यही कहना पड़ता—“सन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नहीं हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरो में विरोध नहीं है।”

वस, यही उत्तर स्याद्वाद है। सत्त्व और असत्त्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किये जाएं तो परस्पर विरोधी होते हैं, किन्तु स्वस्त्र से सत्त्व और परस्पर से असत्त्व रवीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसे—मैं सन्यासी हूँ और सन्यासी नहीं हूँ, यह कहना विष्ट है किन्तु मैं सन्यासी हूँ, गृहस्थ नहीं हूँ, ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है।

### नयवाद

नयवाद को स्याद्वाद का स्तम्भ कहना चाहिए। स्याद्वाद जिन विभिन्न डिप्टिकोणों का अभिव्यजक है, वे डिप्टिकोण जैन परिभाषा में नय के नाम में अभिहित होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मा है। नम्तु के उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का घोषक अभिप्राय गान नग है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मों का घोषक होता है और नय एक धर्म है। एक धर्म ने ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न लिया। लोग न लियान ही करता है। निषेध करने पर वह दुर्बय हो जाता है। लिया जान पर प्रमाण की कोटि में परिगणित हो जाता है। तो, अप्रमाण दोनों से भिन्न प्रमाण का एक अण है, जैसे गमद का

प्रमाण युग्म। सदगत्यादिविकृद्धधर्मतमात्रोग गमगाति शो॥”  
“प्रमाण न दद्यते ।  
“प्रमाण न दद्यते ॥  
“प्रमाण न दद्यते । —प्रमाणनयन तात्त्वाद् भी ॥”



## सप्तभंगी : स्वरूप और दर्शन

अनेकान्तवाद जैनदर्शन की चिन्तन-धारा का मूल स्रोत है, जैन-दर्शन का हृदय है, जैन-वाड़मय का एक भी ऐसा वाक्य नहीं जिसमें अनेकान्तवाद का प्राण-तत्त्व न रहा हो। यदि यह कह दिया जाय तो तर्निक भी अतिशयोन्नित नहीं होगी कि जहाँ पर जैनधर्म है वहाँ पर अनेकान्तवाद है और जहाँ पर अनेकान्तवाद है वहाँ पर जैनधर्म है। जैनधर्म और अनेकान्तवाद एक-दूसरे के पर्यायिवाची है। यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति प्रकरण ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए उसे त्रिभुवन का, अखिल ऋग्वाण्ड का गुरु कहा है। अनेकान्त के त्रिना ससार का कोई भी व्यवहार समीचीन रूप में सिद्ध नहीं हो सकता।

संसार का कोड भी व्यवहार समीक्षन रूप में सिद्ध नहा हा सकता। साम्यदर्शन का पूर्ण विकास प्रकृति और पुरुषवाद मे हुआ हे। वेसत दर्शन का उत्कृष्ट विकास चिद् अद्वैत मे हुआ हे। बोद्धदर्शन का महान् विज्ञान विज्ञानवाद मे हुआ हे। वैसे ही जैनदर्शन का चरम विकास अनेकान्तवाद एवं रथाद्वाद मे हुआ हे। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को समझने के पूर्व प्रमाण और नय को समझना चाहिए। प्रमाण और नय तभी अब तक मे समझ मे आ सकते हे जब सप्तभगी को ठीक तरह से समझा जाय। प्रमाण और नय की शिक्षा नमुगत अनेकान्त के परिवेग के लिए हे और इस भगी की व्याख्या तत्प्रतिपादक वनन पद्धति के परिज्ञान के लिए हे। प्रमाण और नय के सम्बन्ध मे अन्यथ विरतार गे प्रकाश ढाना जा चुका हे।

महाभागी

‘कै? गलामगी क्या है? उसमें क्या प्रयोगत है? उगला क्या

— १८६५ वर्षात् राजा फिलेप

— ६ — ३ — ८८ — , परमा प्रणय-पाद्यम् ॥

-मनस्त्रिया १८५३, १८



है असद्भावपर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

(५) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं।

(६) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।

(७) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और (दो) आत्मा नहीं हैं।

(८) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और अवश्य है।

(९) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) अवश्य है।

(१०) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों में, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और अवश्य है।

(११) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों में, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और (दो) अवश्य हैं।

(१२) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों में और एक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों में, अतएव चतुष्प्रदेशी आत्मा नहीं है और अवश्य है।

(१३) एक देश आदिष्ट है अमद्भावपर्यायों में और अनेक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों में, अतएव चतुष्प्रदेशी आत्मा नहीं है और अवश्य है।

(१४) एक देश आदिष्ट है अमद्भावपर्यायों में और एक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों में, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्मा है।



(१२), (१३), (१४) ये तीन भग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के महं समझने चाहिए।

(१५) दो या तीन देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से, और दो तीन देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से, अतएव पचप्रदेशी स्कन्ध (दो तीन) वात्माये नहीं हैं और (दो या तीन) अवक्तव्य हैं।

(१६) यह भंग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान है।

(१७) एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और अनेक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट हैं, अत प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य है।

(१८) एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है अनेक देश असद्भव पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अनेक प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है (अनेक) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है।

(१६) एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं और दो देश तदुभवपर्यायों से आदिष्ट हैं, अत परमात्मा स्वयं आत्मा है (दो) आत्माये नहीं है और (दो) अवकृतव्य है।

(२०) अनेक देश आदिष्ट हैं मदभावपर्यायों से, एक देश आदिष्ट है अमदभावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों में। आपचप्रदेशी मन्त्र्य (अनेक) आत्माये हैं, आत्मा नहीं है और अवकाश है।

(२१) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अन्त माण है, आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य है।

(२२) दो देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, दो देश आदिरा? या भास्त्रायांगों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अन् ॥  
८ अंतिम चरण (दो) आस्त्राण हैं, (दो) आस्त्राण सही हैं और अनास्त्र हैं।

उसी प्रकार पट्टप्रैषी स्कन्द के २३ भग किये गये हैं, वापीर ना कि इनमें समाप्त ही है और २३ वाँ भग निम्न प्रकार है—

११ : ये नदियाँ में आदिट है, दो देश अमरभार्गा ॥ १ ॥  
 १२ : और दो देश नदियाँ में आदिट है, उगला ॥ २ ॥  
 १३ : इन भवय ॥ (दो) आमाये नहीं और (दो) अमाट ॥ ३ ॥



मेरे निर्दिष्ट हैं वह मीलिक भगों के भेद के कारण नहीं है किन्तु एक वचन वह वचन भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेदकृत सन्यासी को निकाल दिया जाय तो मीलिक भग सात ही रह जाते हैं। अतएव यह कहा जाता है कि आगम मेरे सप्तभगी नहीं है, वह भ्रममूलक है।

(७) सकलादेश-विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभगी विद्यमान है। आगम के अनुसार प्रथम तीन भग सकलादेशी हैं और दो चार भग विकलादेशी हैं।

### भंग कथन-पद्धति

शब्दशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप से विधि और नियेध ये दो वाच्य होते हैं। प्रत्येक विधि के साथ नियेध और प्रत्येक नियेध के साथ विधि जुड़ी रहती है। एकान्त रूप से न कोई विधि सम्भव है और न कोई नियेध ही। इकरार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ इन्कार रहा हुआ है। विधि और नियेध को लेकर जो सप्तभगी बनती है। वह इन प्रकार है—

- (१) स्याद् अस्ति ।
- (२) स्याद् नास्ति ।
- (३) स्याद् अस्ति-नास्ति ।
- (४) स्याद् अवक्तव्य ।
- (५) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य ।
- (६) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य ।
- (७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ।

मेरे सातभगी मेरे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये मूल तीन भग हैं। उन तीन विसयों की ओर एक विसयों की दूसरी तरह चार भग मिलाने की आवश्यकता है। अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य ये दो भग हैं। मरण तीन भग होने पर भी फलितार्थ स्थान मेरा न होगा। यह भग मतार है, उनमे सात भगों का प्रयोग है। इन दो भग मतार के दोनों छुन्द-छुन्द न भी सात भगों का नाम बनाता है।



## चतुष्टय की परिभाषा

विधि और निषेध से प्रत्येक वस्तु का नियत रूप में परिचाल होता है। स्वचतुष्टय से जो वस्तु सत् है वही वस्तु पर-चतुष्टय से असत् है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह चतुष्टय है। स्व-द्रव्य रूप में घट पूदन है, चेतन आदि पर-द्रव्य नहीं। स्व-क्षेत्र रूप में कपालादि स्वावयवों में हैं तन्तु आदि पर-अवयवों में नहीं। स्वकाल रूप में वह अपनी वर्तमान पर्यायों में है, किन्तु पर-पदार्थों की पर्यायों में नहीं है। स्वभाव रूप में स्वर के लाल आदि गुणों में है, पर-पदार्थों के गुणों में नहीं है।

स्याद्वाद मजरी<sup>१</sup> में व्यवहारहृष्टि को लक्ष्य में रखकर द्रव्य के अपेक्षा पार्थिवत्व, थेत्र की अपेक्षा पाटलिपुत्रकत्व, काल की ओग शैषिरत्व और भाव की अपेक्षा श्यामत्व रूप लिखा है।

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में सत् है, पर इच्छा, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से असत् है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत् और असत् होने से वाधा और विरोध नहीं है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है पर-चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है।

प्रत्येक भज्ज निश्चयात्मक है, अनिश्चयात्मक नहीं। इसके लिए कई बार ऐव (ही) शब्द का प्रयोग भी होता है जैसे 'स्याद् घट अस्तेत्'। यहाँ पर 'ऐव' शब्द स्वचतुष्ट्य की अपेक्षा निश्चित हप स घट का अभिन्न प्रकाट करता है। 'ऐव' का प्रयोग न होने पर भी प्रत्येक कथन का निश्चयात्मक ही ममणा नाहिए। रसाद्वाद सन्देह और अनिश्चय या ममणि का नहीं है। नाहे 'ऐव' शब्द का प्रयोग हो या न हो किन्तु यदि कांडा-दसोंग ग्राउद मम्बन्धी है तो वह निश्चित ही है, वह 'ऐव' पूर्ण ही है।

## स्थान् शब्द का प्रयोग

निर्दीय प्रथेक भूमि में ग्रविटेशनल मुराय होता है और अग्रणी प्रभाव का प्रदर्शन करता है। योग और मुराय की विविधता के लिए ही 'स्पाइ' शब्द उपयोग किया जाता है। 'स्पाइ' शब्द जहाँ विवक्षित धर्मों की मुराय शब्द

— १८५४ —



अवक्तव्य है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों स्वरूप हैं। अस्ति और नास्ति होकर भी अवक्तव्य है। वे दोनों किसी एक ग्रन्थ के वाच्य नहीं हो सकते और न सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष में कोई ज्ञान क्रिया ही हो सकती है। इस प्रकार जैनदर्शन सम्मत मूल भज्जी की योजना अन्य दर्शनों में भी देखी जा सकती है।

### प्रमाण-सप्तभंगी

प्रमाणवाक्य को सकलादेश और नयवाक्य को विकलादेश कहते हैं। ये सातों ही भज्जी जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाणवाक्य और वह विकलादेशी होते हैं तब नयवाक्य कहलाते हैं। इसी आधार से सप्तभंगी के भी दो भेद हैं—प्रमाणसप्तभज्जी और नयसप्तभज्जी।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है। किसी भी एक वस्तु का पूर्ण हाल परिज्ञान करने के लिए उन अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु यह न तो सभव है और न व्यवहार्य ही है। अनन्त शब्दों का प्रयोग करने के लिए अनन्तकाल चाहिए किन्तु मनुष्य का जीवन अनन्त नहीं है। अतएव समग्र जीवन में भी वह एक भी वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता। इसलिए हमें एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ का वोध करना होता है। यही वाह्य दृष्टि में ऐसा ज्ञात होता है कि वह एक ही धर्म का कथन करता है। किन्तु अभेदोपचार वृत्ति से वह अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन करता है। अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा साक्षात् एवं धर्म ना प्रतिपादन होने पर भी अखण्ड रूप से अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण धर्म ना युग्मरात् कथन हो जाता है। इसको प्रमाणसप्तभज्जी कहते हैं।

प्रगत हो गकता है कि यह अभेदवृत्ति या अभेदोपचार वर्तमान में जागि अनन्त धर्म है और वे परस्पर भिन्न हैं उन गतियों द्वारा जाग जाग आग जाग रही है, तब उम्में अभेद किम प्रकार माना जा रहा है? उम्मा मत्य आधार यथा है?

उम्मा यह यह है कि वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन की अभेद और नास्ति भिन्न है। अभेद-जीवी भिन्नता में भी अभिन्नता दृढ़ती है। अभेद वृत्ति द्वारा इसी भिन्नता की अन्वेषणा करती है। अभेद वृत्ति द्वारा वस्तु अनन्त धर्मों की काल, सम्पूर्ण वृत्ति, उपचार, युग्मादेश, समग्र, और शब्द की दृष्टि नहीं।



और अन्य गुणों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए सभीं की अपेक्षा से सभी धर्मों में अभेद है।<sup>१</sup>

(८) शब्द—जैसे अस्तित्व का प्रतिपादन 'है' शब्द द्वारा होता है वै अन्य गुणों का प्रतिपादन भी 'है' शब्द से होता है। घट में अस्तित्व है, घट में कृष्णत्व है, घट में कठिनत्व है। इन सब वाक्यों में 'है' शब्द घट के विभिन्न धर्मों को प्रकट करता है। जिस 'है' शब्द से कृष्णत्व का प्रतिपादन होता है उस 'है' शब्द से कठिनत्व आदि धर्मों का भी प्रतिपादन होता है। इसलिए शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य धर्मों में अभेद है।

काल आदि के द्वारा यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थ को गोण और गुणपिण्ड रूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। अभेद प्रमाण का मूल प्राण है। बिना अभेद के प्रमाण का स्वरूप नहीं हो सकता।

### नय-सप्तभंगी

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करता है तिनु शेष धर्मों का नियेध न कर उनके प्रति तटस्थ रहता है। इसी को 'मुना' कहते हैं। नयसप्तभंगी सुनय में होती है, दुर्नय में नहीं। वस्तु के अन्तर्भर्मों में से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदको द्वारा भेद की प्रधानता या भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलागे कहताता है। इसे नयसप्तभंगी कहते हैं। भेददृष्टि से नयसप्तभंगी में यन्त्रु के व्याप्ति का प्रतिपादन किया जाता है।

### काल आदि की दृष्टि से

नयसप्तभंगी में गुणपिण्ड रूप द्रव्य पदार्थ को गोण और पारा। इस अर्थ को प्राप्त माना जाता है, इसलिए नयसप्तभंगी भेद प्राप्त है। इस प्रधानमात्रभंगी में काल आदि के आधार पर एक गुण को अन्य गुणों ने दिग्गिरा दिया जाना है, वैसे ही नयसप्तभंगी में उन्हीं का। आदि गुण का दूसरे गुण में भेद विवरित हिया जाता है। १३।

१३. इस दृष्टि से यह अन्तर है—नयसप्तभंगी में गोण और पारा। इस दृष्टि से यह अन्तर है—नयसप्तभंगी में गोण पर्यायस्वरूप अर्थ को गोण और पारा।



माना जाए तो ससर्गियों का भेद किस प्रकार घटित होगा । लोकहृषि से भी पान, सुपारी, इलायची और जिह्वा के साथ भिन्न प्रकार का संसर्ग होता है, एक नहीं । इसलिए संसर्ग से अभेद नहीं अपितु भेद ही सिद्ध होता है ।

(d) शब्द—प्रत्येक धर्म का वाचक शब्द भी पृथक्-पृथक् ही होगा । यदि एक ही शब्द समस्त धर्मों का वाचक हो सकता हो तो सब पदार्थ भी एक शब्द के वाच्य बन जायेगे । ऐसी स्थिति में दूसरे शब्दों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, इसलिए वाचक शब्द की अपेक्षा से भी वस्तुतः अनेक धर्मों में अभेदवृत्ति नहीं, भेदवृत्ति ही प्रमाणित होती है ।

प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्याय स्वरूप है । गुण और पर्याय दोनों में परस्पर भेदभेद सम्बन्ध है । जिस समय प्रमाण-सप्तभगी से पदार्थ का अधिगम किया जाता है उस समय गुण-पर्यायों में कालादि से अभेदवृत्ति या अभेद का उपचार होता है और अस्ति अथवा नास्ति प्रभृति इन्हीं एक शब्द से ही अनन्त गुण-पर्यायों के पिण्ड स्वरूप अखण्ड पदार्थ का युग्म पत् परिवेष होता है और जिस समय नयसप्तभगी के द्वारा पदार्थ का अधिगम किया जाता है, उस समय गुण और पर्यायों में कालादि के द्वारा भेदवृत्ति या भेदोपचार होता है<sup>१</sup> और अस्ति, नास्ति प्रभृति किसी भी के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व या नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण-पर्याय का मुम्य स्पष्ट में क्रमशः निरूपण होता है । विकलादेश नय है और मात्रादेश प्रमाण है । नय वस्तु के एक धर्म का निरूपण करता है और प्रमाण मम्पूर्ण धर्मों का युग्मपत् निरूपण करता है । नय और प्रमाण दोनों में गहरी अन्तर है । प्रमाणसप्तभग्नी में अभेदवृत्ति या अभेदोपचार या उपचार दोनों हैं तो नयमात्रभग्नी में भेदवृत्ति या भेदोपचार का निरूपण होता है । नामर्थ यह है कि प्रमाणसप्तभग्नी में द्रव्याधिक भाव है, इनी ही उपचार धर्मों में अभेदवृत्ति ग्रहत है और जहाँ पर पर्यायाधिक भाव का जागा नहीं आता है वहाँ अनेक धर्मों में एक अयण्ड अभेद प्रस्थापित (आरोपित) होता है । उर्ती पर नयमात्रभग्नी में द्रव्याधिकता है वहाँ पर उपचार करारे एक धर्म का मुम्य स्पष्ट में निरूपण होता है । उपर्युक्त पर पर्यायाधिकता है वहाँ पर अभेदवृत्ति अपने आगे आ जाती है और प्रस्तावना नहीं होती ।



बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद में भी उक्त चार पक्षों का उल्लेख मिलता है। सान्तता और अनन्तता, नित्यता और अनित्यता आदि प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। उसी प्रकार इन चारों पक्षों को भी अव्याकृत कहा है। जैसे—

(१) होति तथागतो पर मरणाति ?

(२) न होति तथागतो पर मरणाति ?

(३) होति च न होति च तथागतो पर मरणाति ?

(४) नेव होति न न होति तथागतो पर मरणाति ?<sup>1</sup>

उक्त अव्याकृत प्रश्नों के अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न विपिटक में ऐसे हैं, जो इन चार पक्षों को ही सिद्ध करते हैं—

(१) सयंकतं दुक्खति ?

(२) परकत दुक्खति ?

(३) सयकत परकत च दुक्खति ?

(४) असयकार अपरकार दुक्खति ?<sup>2</sup>

महावीरकालीन तत्त्वचिन्तक सजयवेलट्टिपुत्र के अज्ञानवाद में भी उन्नत नार पक्षों की उपलब्धि होती है। सजयवेलट्टिपुत्र इन प्रश्नों का उन्नत न 'हाँ' में देता था और न 'ना' में देता था। किसी भी विषय में उम्मीद भी निश्चय नहीं था। बुद्ध के सामने जब इस प्रकार के प्रश्न आते तो वे अज्ञान रह देते थे पर मज़य उनसे एक कदम आगे था। वह न तो कहा, न 'ना' कहता, न अव्याकृत कहता, न व्याकृत कहता। किसी भी अज्ञान या विशेषण प्रयोग करने में उम्मीद भय सा अनुभव होता था। वह मन्त्र भी विषय में थापना निश्चिन्त मत प्रकट नहीं करता था। वह मन्त्र यह है कि योग्यान्वय वाले वही व्याकृत हैं जिन्होंने उसमें व्याकृत व्याकृत नहीं किया है। यह मन्त्र का भी यह मन्त्रव्य था कि हमारा जीवन का उद्देश्य हम ही हैं। यह मन्त्र का भी यह मन्त्रव्य था कि हमारा जीवन का उद्देश्य हम ही हैं। यह मन्त्र का भी यह मन्त्रव्य था कि हमारा जीवन का उद्देश्य हम ही हैं।



भगवान् महावीर ने अपनी विश्वाल व तत्त्व-स्पर्शिनी हृषि से वस्तु के विराट् रूप को निहारकर कहा—वस्तु में चार पक्ष ही नहीं होते किन्तु प्रत्येक वस्तु में अनन्त पक्ष है, अनन्त विकल्प है, अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसलिए भगवान् महावीर ने उक्त चतुर्जोड़ि से विलक्षण, वस्तु में रहे हुए प्रत्येक धर्म के लिए सप्तभगी का वैज्ञानिक व्याप्ति प्रस्तुत किया और अनन्त धर्मों के लिए अनन्त सप्तभगी का प्रतिपादन करके वस्तुव्योध का सर्वग्राही रूप जन-जन के मामने उपस्थित किया।

भगवान् महावीर से पूर्व उपनिषद् काल में वस्तु-तत्त्व के सदसङ्ग को लेकर विचारणा चल रही थी किन्तु पूर्णरूप से निर्णय नहीं हो सका था। सजय ने उन ज्वलंत प्रश्नों को अज्ञात कहकर टालने का प्रयास किया। उन्होंने कितनी ही वातों में विभज्यवाद का कथन करके अन्य वातों को अज्ञात कह दिया किन्तु महावीर ने स्पष्ट उद्वेष्टणा की कि चिन्तन के क्षेत्र में भी भी वस्तु को केवल अव्याकृत या अज्ञात कह देने में समाधान नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने अपनी तात्त्विक व तर्क-मूलक हृषि से वस्तु के मन्त्र का यथार्थ प्रतिपादन किया। सप्तभगीवाद, स्याद्वाद, उसी का प्रतिफल है।



## निक्षेपवादः एक विश्लेषण

## निक्षेप की परिभाषा

निष्केप को पारभाषा  
मानव अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के वह अपने विचार सम्यक् प्रकार से व्यक्त नहीं कर सकता। मानव और पशु में एक बहुत बड़ा अन्तर यही है कि दोनों में अनुभूति होने पर भी पशु भाषा की स्पष्टता न होने से उसे व्यक्त कर पाता जब कि मानव अपने विचारों को भाषा के माध्यम में भली-भरी व्यक्त कर सकता है।

व्यक्त कर सकता है। विश्व का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के चल नहीं मरा। परस्पर के व्यवहार को अच्छी तरह से चलाने के लिए भाषा का महार और शब्द-प्रयोग का माध्यम अनिवार्य है। विश्व में हजारों भाषाएँ हैं और उनके लाखों शब्द हैं। हरएक भाषा के शब्द अलग-अलग होते हैं भाषा के परिज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान आवश्यक है, और शब्द-ज्ञान ने भी भाषा-ज्ञान जरूरी है। किसी भी भाषा का सही प्रयोग तभी हो सकता है जब हम उन शब्दों का समुचित प्रयोग करना मीले।

जब हम उन शब्दों का समुचित प्रयोग करना मील ।  
वहाँ द्वाग प्रयुक्त शब्द का नियत अर्थ बगा है इसे ठीक तरीके से लेना जैन दर्शन की भाषा में निश्चेपवाद कहा जाता है । तिर्यक गत्ता जैन दर्शनिकों ने उम प्रकार बताया है कि शब्दों का अर्थ में एक अद्यता या शब्दों में आगेप करना, अर्थात् जो किसी एक निश्चय या निर्णय का अद्यता या उसे निश्चय कहते हैं ।

निरामा का पर्यायवाची शब्द न्याम है। तत्वार्थ में यह 'निराम' है। तत्त्वार्थ ग्रन्थानि के 'न्यामो निरोप' इस शब्द का पर्यायवाची शब्द निराम है।



सिद्धिविनिश्चय में भट्ट अकलक ने लिखा है<sup>9</sup> कि किसी धर्म से नये के द्वारा जाने हुए धर्मों की योजना करने को निष्क्रेप कहते हैं। निष्क्रेप वे अनन्त भेद है किन्तु सक्षेप में कहा जाय तो उसके चार भेद हैं। अप्रस्तुति का निराकरण करके प्रस्तुत का निरूपण करना उसका उद्देश्य है। निष्क्रेप द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्वों को जानने का कारण है। निष्क्रेप से केवल तत्त्वार्थ का ज्ञान ही नहीं होता अपितु संशय, विपर्यय आदि भी नष्ट हो जाते हैं। निष्क्रेप तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु इसलिए है कि वह शब्दों में, यथाशक्ति उनके वाच्यों में, भेद के रखना करता है, एतदर्थं ज्ञाता के श्रुतविषयक विकल्पों की उपलब्धि वे उपयोग का नाम निष्क्रेप है।

## निक्षेप का आधार

निधेप का आधार—प्रधान, अप्रधान, कल्पित और अकलित हृषि  
विन्दु है। भाव अकलित हृषि है, एतदर्थं वह प्रधान होता है, शेष ती  
निधेप कल्पित है, अतः अप्रधान है।

नाम से वस्तु की पहचान होती है। स्थापना में गुण की वृत्ति न होती किन्तु आकार की भावना होती है। द्रव्य में मूल वस्तु की पूर्ण उत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है, पर इस भी मौलिकता नहीं होती, एतदर्थ्ये ये तीनों अमौलिक हैं।

## निष्केप पद्धति की उपयोगिता

निर्धारण विभाग का उच्चायामीता  
निर्धारण में शब्द और उसके वाच्य की मधुर समग्रति है। निर्धारण  
जिस भाषा के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। अ-  
भाषा जहाँ ने पीढ़ी अर्थ की स्थिति को रपष्ट करने वाला जो विभेद  
शब्द है, वही निर्धारण पद्धति की विभेदपता है। दूसरे शब्दों में 'स-विभेद  
भाषा प्रयोग' भी उसको कह सकते हैं। अर्थ के अनुरूप शब्द रागा  
स-विभेदपता वाणी-मन्त्र का महान् तत्त्व है। चाहे विभेदपता

८५४ विद्युत्संक्रियाणि ।

१०८ विजयवार्षीय शत्रुघ्नि ॥

१३४ भारतीय संस्कृत विद्या

• १८८ • श्रीकृष्णस्तुति-प्राप्तिकरणम् ॥

-- fatal if seen, first



व्यक्ति का नाम लक्ष्मीपति रख दिया। विद्यासागर व लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिए वह उनमे नहीं मिलता। इसलिए ये नाम निषिद्ध कहलाते हैं। विद्यासागर का अर्थ विद्या का समुद्र है और लक्ष्मीपति का अर्थ धन का मालिक है। विद्या का सागर होने से किसी को विद्यासागर कहना यह नाम निषेप नहीं है। जो ऐचर्चर्य सम्पन्न हो उसे इसी कारण लक्ष्मीपति कहा जाय तो यह भी नाम निषेप नहीं है। गुण की विवक्षा न करके नामकरण करना नाम निषेप है। यदि नाम के साथ इसी प्रकार का गुण भी विवक्षित हो तो वह भाव निषेप ही जायेगा। यदि नाम निषेप नहीं होता तो हम 'विद्यासागर', 'लक्ष्मीपति' आदि नाम सुनकर अगाध विद्वत्तासम्पन्न एव धनाद्य व्यक्ति की ही कल्पना करते, पर सर्वं ऐसा नहीं होता। इसलिए इन शब्दों का वाच्य जब अर्थात् कुल नहीं होता तब नाम निषेप ही विवक्षित समझना चाहिए।

नाम निषेप में जो उसका मूल नाम है उसी से उसे पुकारा जाता है किन्तु उस नाम के पर्यायवाची शब्दों से उसका कथन नहीं हो सकता। जैसे किसी व्यक्ति का नाम यदि इन्द्र रखा गया हो तो उसे मुरेन्द्र, देवेन्द्र पुरेन्द्र, पाकशासन, शक्र आदि शब्दों से सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

काल की अपेक्षा से भी नाम के दो भेद हैं—एक शाश्वत और दूसरा अशाश्वत। जो नाम हमेशा रहने वाले हैं वे शाश्वत हैं जैसे मूर्य, चन्द्र, मेरु, गिरजिला, तोर, आगोह आदि। जिन नामों में परिवर्तन होता रहता है वे अशाश्वत नाम। जैसे जो तत्की मायों में 'कमला' के नाम से प्रसिद्ध है वही रामायाम में 'रामा' नाम रहा दिया जाता है।

### स्थापना निषेप

"॥ तद्वापनर्थै॥, उमे तद्वाप मान तेना ग्रामना निदानै॥

"॥ तद्वाप तद्वापो तत्त्व वर्णु मे यद्य परिकल्पना करना निदानै॥

"॥ तद्वाप तद्वापै॥ ग्रामना निदानै दा भेद है तद्वाप॥

"॥ तद्वाप तद्वाप॥ ग्राम ग्रामव ग्रामना और ग्रामना॥

"॥ तद्वाप तद्वापै॥ ग्रामी वर्णु यो उमी। आहार नारी दगड़ी ग्राम॥

"॥ तद्वाप तद्वापै॥। ग्राम दगड़नै॥ फिर तो॥॥

"॥ तद्वाप तद्वाप ग्राम, ग्राम, ग्रामी यो उम ग्राम॥



## □ नय-वादः एक अध्ययन

- विचार की आधारभित्ति
- नय विभाग का आधार
- दो परम्पराएँ
- नैगमनय
- नैगमाभास
- सप्रहनय
- सप्रहाभास
- व्यवहारनय
- व्यवहाराभास
- अनुसूननय
- अनुसूनाभास
- गमनय
- गमनाभास
- समभिक्षुनय
- समभिक्षुनयाभास
- एकाधार
- एकाधाराभास
- नयो द्वा द्वारा दृष्टे गमनय
- अद्वितीय दृष्टि ने नय पर विनाश
- द्वारा दृष्टि नय
- द्वारा दृष्टि प्रतिज्ञाविक दृष्टि
- द्वारा दृष्टि द्वारा नेतृत्वित दृष्टि
- द्वारा दृष्टि द्वारा नय
- द्वारा दृष्टि
- द्वारा दृष्टि द्वारा प्रतिज्ञा
- द्वारा दृष्टि दृष्टि
- द्वारा दृष्टि द्वारा दृष्टि



जैनवर्णन : स्वरूप और विषय

(४) ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(५) शब्द—यथाकाल, यथाकारक, शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(६) समभिसूठ—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्द प्रयोग से अपेक्षा से होने वाला विचार।

(७) एवम्भूत—वस्तु के कार्यानुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

### नयविभाग का आधार

अभेद सग्रहदृष्टि का आधार है और भेद व्यवहारदृष्टि का। सग्रहनय भेद को नहीं मानता है और व्यवहारनय अभेद को स्वीकार नहीं करता है। नैगम नय का आधार है—अभेद और भेद ये दोनों एक पर में रहते हैं, ये सर्वथा दो नहीं हैं परन्तु गौण—मुख्य भाव में दो हैं। दृष्टि में मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है पर गौण में। कभी धर्मी मुख्य बनता है तो कभी धर्म। अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार क्रम में परिवर्तन होता रहता है।

ऋजुमूलनय का आधार चरम भेद है। यह केवल वर्तमान परा को ही वास्तविक मानता है। पूर्व और पश्चात् की पर्यायों को नहीं। शब्द भेद के अनुसार अर्थ का भेद होता है, यह शब्दनय की प्रभिति है।

प्रयोग शब्द का अर्थ पृथक्-पृथक् है। एक अर्थ के दो नामाने से यह समभिसूठनय का आधार है।

प्रयोग ने अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उमारी प्राप्ति किया, प्रयोग ने अनुसार होना चाहिए। समभिसूठनय अर्थ की फ़िया में अपार्जित रूप से उपयोग वायर मानता है। वट वाच्य और वाचन के प्रयोग। मानता है फ़िल्म एवं भूत वाच्य-वाचक के प्रयोग को। इस दृष्टि में गात नमां फ़िया करता है। इस दृष्टि में गात नमां फ़िया करता है।

प्रयोग ने अनुसार करना।  
प्रयोग ने अनुसार करना।  
प्रयोग ने अनुसार करना।



निगम का अर्थ लोक है। उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय नैगम है। अथवा जिसके जानने का एक 'गम' नहीं परत्तु अनेक 'गम' विधमार्ग है वह नैगम है। सभी वस्तुएँ सामान्य और विशेष दोनों घर्मों में युक्त होती है। उनमें जाति आदि सामान्य धर्म है और विशेष प्रकार के भेद करने वाले विशेष धर्म है। करपना कीजिए, सौ घड़े पढ़े हुए हैं। उनमें 'दे सब घड़े हैं' यह जो ऐक्य बुद्धि है वह सामान्य धर्म से होती है। 'यह मेरा घडा है' इस प्रकार सभी लोग अपने-अपने घडों को पहचान ले, यह विशेष धर्म से होता है। नैगमनय वस्तु को इन उभय गुणों से युक्त मानता है। उसका मन्तव्य है कि विशेष के विना सामान्य और सामान्य के विना विशेष नहीं होता।

किसी व्यक्ति में आपने पूछा—आप कहाँ पर रहते हैं?  
उसने कहा—मैं लोक में रहता हूँ।

पुन जिज्ञासा प्रस्तुत की—लोक तो अत्यन्त विस्तृत है उसमें आप कहाँ रहते हैं?

उसने कहा—मध्य लोक में।  
मध्यलोक में भी कहाँ रहते हैं?  
जम्बुदीप में।  
जम्बुदीप में भी अनेक धोत्र हैं, उनमें से आप किस धोत्र में रहते हैं?  
भग्न धोत्र में।

भग्न धोत्र में भी मैंकड़ों प्रान्त हैं, देश है, उनमें आप कहाँ रहते हैं?

आपादे राजस्थान प्रान्त में।  
राजस्थान में भी अनेक णहर है उनमें आप किसमें रहते हैं?  
उदयगढ़ में।

उदय भी और गनिया तथा मकान है, उनमें कहा रहते हैं?  
अहं गरीब वह नम्बर के मकान में रहता है।

अहं भी अद्य कमर है, उनमें किंग कमर में रहता है।  
उदय लग्जरी, उसमें रहता है।

उदय भी वह है जगत का रहना है?  
उदय भी वह है जिसमें वहाँ उस गर्भामध्ये रहता है।



को औपधि दो, इतना कहने से कार्य नहीं चलेगा, किन्तु औपधि व भी बताना होगा। व्यवहारनय की दृष्टि से कोयल काली है, पर दृष्टि से उसमे पाँचों वर्ण हैं।

व्यवहारनय में उपचार होता है, जिन उपचार के व्यवहा का प्रयोग नहीं होता। व्यवहारनय के दो भेद हैं—सामान्यभेदक और विशेषभेदक। सामान्यसग्रह में दो भेद करने वाले नय को सामान्यभेदक व्यवहारनय कहते हैं। जिस प्रकार द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। विशेषसग्रह में अनेक भेद करने वाला विशेषभेदक व्यवहा नय कहलाता है, जैसे मसारी जीव के चार भेद हैं—नारक, तिर्यक्च, मरु और देव। इस प्रकार व्यवहारनय वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ पुन भेद की सभावना न रहे। इस नय का मुख्य प्रयोजन है व्यवहार मिदि।<sup>१</sup> यह नय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। तो व्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनों से चलता है।

व्यवहारदृष्टि पर्याय को नहीं किन्तु द्रव्य को ग्रहण करती है जो व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए द्रव्य स्प है तरी पर्यायव्यप। इसी कारण व्यवहारनय की परिणाम द्रव्यार्थिना अन्तर्गत की गई है। नैगम, सग्रह और व्यवहार में तीनों नय द्रव्यार्थिना नय के भेद हैं।<sup>२</sup>

### व्यवहाराभास

तो इन विभिन्न विस्तारादी और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने से भेद कामना व्यवहाराभास है।<sup>३</sup>

इस और पर्याय का वार्तविक भेद मानना व्यवहार नह है किंवा ना इस और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है वह जाता है।<sup>४</sup> नामाय २।<sup>५</sup> चारों किरदर्घन वार्तविक द्रव्य और पर्याय हैं।<sup>६</sup>

१ ॥२॥ ॥३॥ प्रयाण ॥ प्रयाणना ॥

२ ॥४॥ वा प्रयाण ॥ वाहाना वन्प्रयगा ॥

३ ॥५॥ वा वा वा ॥

४ ॥६॥ वा वा वा ॥

५ ॥७॥ वा वा वा ॥ वा वा ॥ वा वा ॥

६ ॥८॥ वा वा वा वा वा ॥ वा वा वा ॥

७ ॥९॥ वा वा ॥

८ ॥१०॥



भिन्न अर्थ का बोध होता है। शब्दनय स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोन पुलिंग से नहीं मानता। पुलिंग से वाच्य अर्थ का बोध नपुसकर्तिंग से नहीं मानता, जैसे—तट, तटी, तटम्—इन तीनों वाचकों में शब्दनय लिंगेद से अर्थभेद मानता है।

उपसर्ग के कारण भी एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। आहार, विहार, प्रहार, सहार, निहार आदि के अर्थ में जो विभिन्नता है उसका यही कारण है। 'आ' उपसर्ग लगाने से 'आहार' का अर्थ 'भोजन' हो गया है। 'वि' उपसर्ग लगाने से 'विहार' का अर्थ 'गमन' हो गया है। 'प्र' उपसर्ग लगाने से 'प्रहार' का अर्थ 'चोट' हो गया है। 'सम्' उपसर्ग लगाने से 'सहार' का अर्थ 'नाश' हो गया है। 'नि' उपसर्ग लगाने से 'निहार' का अंग 'वरफ' हो गया है।

इस प्रकार नाना प्रकार के सयोगों के आधार पर विभिन्न शब्दों ने अर्थभेद की जो अनेक परम्पराएँ प्रचलित हैं वे सभी शब्द नय में आ जाती हैं। शब्दशास्त्र के विकास का यही नय मूल रहा है।

### शब्दनयाभास

काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य पदार्थ में एकान्त भेद मानने वाला अभिप्राय शब्दनयाभास है।

काल का भेद होने से पर्याय का भेद होता है तथापि द्रव्य एक गति यना रहता है। शब्दनय पर्यायिदृष्टि वाला है इसलिए वह भिन्न-भिन्न पर्यायों को ही स्वीकार करता है, द्रव्य को गीण करके उसकी उपेक्षा करता है। इन्हीं शब्दनयाभास निभिन्न कालों में अनुगत रहने वाले द्रव्य का पर्याय नियंत्रण करता है एतदर्थे यह नयाभास है। जैसे सुमेह था, सुमेह न हो गमेर रोगा—आदि भिन्न-भिन्न काल के शब्द मर्वणा भिन्न पर्याय हैं। तरने हैं योकि ते भिन्न काल वाचक शब्द हैं जैसे भिन्न पर्याय हैं। तरने या। दम। भिन्न कालोंन शब्द।

### समभिन्न नय

शब्द रात, रात्रि, राग, गाया आदि के भेद गंधी आंग न हैं। रात्रि निया वाला। पर्यायवाची गंधों में भेद नहीं माना। रात्रि न भरने वाली वृति आगे न ली। गो।



अपितु वह सिन्धु का एक अण है ।<sup>१</sup> एक सैनिक सेना नहीं है किन्तु असेही भी नहीं है क्योंकि वह सेना का एक अश तो है ही । नय के सम्बन्ध में नहीं यही वात चरितार्थ है ।

प्रमाण वरतु के अनेकान्तात्मक रूप को ग्रहण करता है और नय उस वस्तु के एक अण को ।

प्रश्न है—यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अण ने ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान हो जायेगा फिर उससे वस्तु का परामर्श वोध किस प्रकार होगा ?

उत्तर में निवेदन है कि 'नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अण ने ही ग्रहण करता है यह भूत्य है, किन्तु इतने मात्र में वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता । एक अश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अणों का निषेध करे तो उसे मिथ्याज्ञान होगा किन्तु जो अश-ज्ञान अपने में अतिरिक्त अशों का निरोध कर केवल अपने हृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है वह मिथ्याज्ञान नहीं है ।'

### सुनय और दुर्नय

प्रमाण में सभी धर्मों के ज्ञान का समावेश हो जाता है किन्तु नय एक अश को मुम्य करके अन्य अश को गोण करता है किन्तु उसमें उमर्गा या तिरस्मार नहीं करता किन्तु दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्य का निरोध करण करता है । प्रमाण<sup>२</sup> तत् और अतत् सभी को जानता है किन्तु नय में लेन 'तत्' की ही प्रतिपत्ति होती है पर दुर्नय दूसरों का निराग दर्शना है ।

उमाग्नानि निराते हैं किसी वस्तु के अन्य धर्मों का निरोध तात् आने अभीष्ट प्राप्ताना को गिन्ध करने को दुर्नय कहते हैं ।

\* तात् वस्तु न चास्तु वस्त्रवग कर्यते यत ।

\* गमदा वा गमदाशो यथोन्यते ॥

तत्त्वाद्य एतोक्त्वातिक ११६, नगरिगण १११

(१) तात् वस्तु गमदादो वादागत्वात् प्रमाणनय दुर्नयना प्राप्तागत्वाग्नाम ।

प्राप्तागत्वाग्नाम भावप्राप्तिने नव्यनिपत्ते तत्त्वनिराग १११ - ११२ ।

(२) तात् वस्तु प्रमाणगिरीतय गमांत्रया,

गमदा वादादागत्वाग्नाम यत् अनुगमित ।

(३) गमदा वादादागत्वाग्नाम यत् अनुगमित ।

(४) तात् वस्तु गमदा वादादागत्वाग्नाम यत् अनुगमित ।



काम लिया है और जिस जाज्वल्यमान प्रतिभा का परिचय दिया है, वह किसी भी दर्शनान्तर के तार्किकों से कम नहीं है।

तब जैनदर्शन में मन्तव्यभेद न होने का क्या रहस्य है? गभीर विचार करने पर स्पष्ट हुए विना नहीं रहता कि इसका सम्पूर्ण धर्म नयवाद को है। नयवाद के आधार पर अनेकान्तवाद का सुदृढ़ सिद्धान्त स्थापित हुआ है और उसमें सत्य के सभी अशो का यथायोग्य समावेश हो जाता है। कोई भी सत्य-दृष्टिकोण अनेकान्तवाद की विशाल परिप्रे वाहर नहीं जा पाता। जड़ और चेतन जगत् की एकता-अनेकता, नित्यता-अनित्यता, सचेतनता-अचेतनता आदि सम्बन्धी मन्तव्य जिन्होंने परस्पर विरोधी बनकर अन्य दर्शनों में सम्प्रदायभेद उत्पन्न किया है, अनेकान्तवाद में अविरोधी बन जाने हैं। अतएव इन विचारों का अनेकान्तवाद में ही अपक्षाभेद से समावेश हो जाता है। यह नयवाद की बड़ी से बड़ी विशेषता है। इस विशेषता का उदारतापूर्वक उपयोग किया जाय तो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दर्शन अविरुद्ध बन सकते हैं, उनमें शयुभाव के स्थान पर मित्रभाव स्थापित हो सकता है और खण्डित सत्य के स्थान पर असाध-मम्पूर्ण सत्य की विमल झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है।



(३) उन्नियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है, और व्यावहारिक दृष्टि में प्रत्यक्ष है।

(४) मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलक ने और अन्य आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—साव्यावहारिक और पारमार्थिक, यह उनकी स्वयं कल्पना नहीं है किन्तु उनकी कल्पना का मूल आधार नन्दीमूत्र और विषेषावश्यक भाग में रहा हुआ है।<sup>१</sup>

आभिनिवोधिक ज्ञान के अवग्रह आदि भेदों पर वाद के दार्शनिक आचार्यों ने विश्वास में विवेचन किया है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि की इन तार्किकों ने जो दार्शनिक दृष्टि में व्याख्या की है, वैमी व्याख्या वालों साहित्य में नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि आगम युग में इस सम्बन्ध को लेकर कोई मध्यर्पण नहीं था किन्तु उसके पश्चात् अन्य दार्शनिकों में उन दार्शनिकों को अत्यविक सम्बन्ध करना पड़ा जिसके फलस्वरूप नवीन दृग के तर्क सामने आये। उन्होंने उस पर दार्शनिक दृष्टि से गमीर विनाय किया। हम यहाँ आगम व दार्शनिक ग्रन्थों के विमल प्रकाश में पाँच ज्ञानों पर चिन्नन करेंगे, उसके पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि पर प्रमाण की दृष्टि से विचार किया जायेगा।

### मतिज्ञान

जो ज्ञान उन्निय और मन की महायता से होता है वह मतिज्ञान है। अर्थात् जिस ज्ञान में उन्निय और मन की महायता की अपेक्षा रहती है उसे मतिज्ञान कहा गया है।<sup>२</sup> आगम माहित्य में मतिज्ञान को आभिनिवोधिक ज्ञान कहा है।<sup>३</sup> तत्त्वार्थग्रन्थ में मति, स्मृति, गजा, नित्ता, अभिनिवोधिक ज्ञान कहा है।<sup>४</sup> विषेषावश्यक भाग में—इहा, अपीह, विमर्श, मार्गना-



अत यह अर्थ हुआ कि नाम कर्म की रचना विशेष इन्द्रिय है।<sup>१</sup> सारांश यह है कि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर कर्म का आवरण होने में सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है, वह माध्यम इन्द्रिय है। जिसकी सहायता से ज्ञान लाभ हो सके, वह इन्द्रिय है। इन्द्रियों पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, व्राण, चक्षु और श्रोत। इनके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श, रस, गध, रूप, और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत-अर्थग्राही कहा जाता है। जैसे—

- (१) स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय . . . . . स्पर्शन।
- (२) रस-ग्राहक इन्द्रिय . . . . . रसन।
- (३) गध-ग्राहक इन्द्रिय . . . . . व्राण।
- (४) रूप-ग्राहक इन्द्रिय . . . . . चक्षु।
- (५) शब्द-ग्राहक इन्द्रिय . . . . . श्रोत्र।<sup>२</sup>

प्रत्येक इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप में दो प्रकार की है। पुद्गल की आकृति विशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का परिणाम भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के भी निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद हैं।<sup>३</sup> उन्हीं ने विशेष आकृतियाँ निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय की वाता और आम्यन्तरिक पौद्गलिक शक्ति है, जिसके अभाव में आकृति के होने पर भी ज्ञान होना सभव नहीं है, उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी नहिं और उपगोग रूप में दो प्रकार की है।<sup>४</sup> ज्ञानावरण कर्म आदि के धारोगणमें प्राप्त होने वाली जो आत्मिक शक्ति विशेष है, वह नवनित है। तथा प्राप्त होने पर आत्मा एक विशेष प्रकार का व्यापार करती है, वह व्यापार नामोद है।



है, इसका अर्थ विना उदर वाली लड़की नहीं किन्तु वह लड़की जो गमनंती स्त्री के समान रथूल उदर वाली न हो। उसी तरह चक्षु यादि के ममान प्रतिनियत देश, विषय, अवस्थान का अभाव होने से मन को अतिनिधि कर है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य जी कल्पना करता है। इसलिए उसे 'दीर्घकालिक सज्जा' भी कहा है। जै आगम साहित्य में 'मन' शब्द की अपेक्षा 'सज्जा' अच्छ अधिक व्यवहृत है। समनस्क प्राणी को सज्जी कहा गया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—  
 (१) सत्-अर्थ का पर्यालोचन—ईहा है। (२) निश्चय—अपोह है। (३) बन्द धर्म का अन्वेषण—मार्गणा है। (४) व्यतिरेक धर्म का स्वस्पालोचन—गवेषणा है। (५) यह कैसे हुआ? किस प्रकार करना चाहिए? यह इस प्रकार होगा?—इस तरह का पर्यालोचन चिन्ता है। (६) यह इसी प्रकार हो सकता है—यह इसी प्रकार हुआ है, और इसी प्रकार होगा—इस तरह का निर्णय विर्मर्ज है। वह सज्जी कहलाता है।<sup>1</sup>

मन का लक्षण

मन का लक्षण  
जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है।<sup>१</sup> इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त्ति और अमूर्त्ति। उन्नियाँ केवल मूर्त्तिव्य की वांगमन पर्याय को जानती हैं, मन मूर्त्ति और अमूर्त्ति दोनों के वैकातिक अनेक गति दो जानता है।<sup>२</sup>

मन भी इन्द्रिय की तरह पीडगलिक-शक्ति-सापेक्ष है, इसलिए उम्‌  
द-गमन और भावनमन गे दो भेद बनते हैं।

मन के आनन्द-भूत या प्रवर्तनक पुदगत व्रद्य-मनोवर्गणा—२१  
मन के स्थ में परिणाम होते हैं तब वे व्रद्य-मन कहताते हैं। यह मा-  
ग भी में भिन्न हो जीव है।\*

“ ॥ ४ ॥ इति वाचम् एव अद्य इहा, अबोहो, मग्ना ।  
महा ॥ इति वाचम् एव एव मणी नि लक्ष्मि ॥

• १९८०-८१ अंतर्राष्ट्रीय

२०८ चूप; व्रद्धन गोपा।  
२०९ उत्तरार्द्ध, प्राचीनिक्यम्, शमशानम् अस्ति ब्रह्मा।

१०८ विषयात् ४ विषयात् । या द्वया सर्वे अनेको भवति

— विद्युति १३



अवग्रह के व्यजनावग्रह और अर्थविग्रह ये दो भेद हैं।<sup>१</sup>

### अर्थविग्रह और व्यजनावग्रह

अर्थ और इन्द्रिय का सयोग व्यजनावग्रह है। उपर्युक्त पक्षियों जो अवग्रह की परिभाषा दी गई है वह वस्तुत अर्थविग्रह की है। प्र परिभाषा मे व्यजनावग्रह दर्शन की कोटि मे आता है। प्रश्न है कि और इन्द्रिय का सयोग व्यजनावग्रह है, तब दर्शन कव होगा। समाचार कि व्यजनावग्रह से पूर्व दर्शन होता है। व्यजनावग्रह रूप जो सम्बन्ध है ज्ञान कोटि मे आता है और उससे भी पहले जो एक सत्ता सामान्य का है वह दर्शन है।

अर्थविग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञान व्यापार, जो इन्द्रिय का विषय के समयोग होने पर उत्पन्न होता है और क्रमशः पुष्ट होता जाता है व्यजनावग्रह कहलाता है। यह ज्ञान अव्यक्त है। व्यजनावग्रह अर्थात् किम प्रकार बनता है। इसे समझाने के लिए आचार्यों ने एक रूपादि है—एक कुम्भकार अवाडा मे से एक सकोरा निकालता है। वह उम पानी की एक-एक वूँद डालता है। पहली, दूसरी, तीसरी वूँद मूर जाती है, अन्त मे वही सकोरा पानी की वूँदे मुखाने मे असमर्थ हो जाता है और धीरे-धीरे पानी भर जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति सोया है। उन पुण्यारा जाता है। कान मे जाकर शब्द चुपचाप बैठ जाते हैं। वे अभिभाव नहीं हो पाते। दो चार बार पुण्यारने पर उसके कान मे अत्यनिक शब्द एक्षण हो जाते हैं। तभी उसे यह परिज्ञान होता है कि मुझे कोई पुण्यार नहीं, यह ज्ञान प्रथम शब्द के ममय उतना अस्पष्ट और अव्यात होता है। उसे यह तत का पता ही नहीं लगता कि मुझे कोई पुकार रहा है। जिसका फौ नगद शब्दो का मग्न जब काफी मात्रा मे हो जाता है, तो उसका ज्ञान होता है। व्यजनावग्रह और अर्थविग्रह मे यही अन्त है। इस प्रथम अव्यक्त है और अर्थविग्रह व्यक्त है। प्रथम रूप जो ज्ञान है, वह व्यजनावग्रह है। दूसरा रूप जो व्यक्त ज्ञान है, वह उपर्युक्त है।



अर्थावग्रह सामान्य ज्ञान रूप है, इसलिए पाँच इन्द्रियों और छठे मन  
में अर्थावग्रह होता है।

अवग्रह के लिए कितने हो पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। नन्दीमूत्र में अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, अवणता, अनलम्बनता और मेधा शब्द आये हैं।<sup>9</sup> तत्त्वार्थभाष्य में—अवग्रह, ग्रह, प्रग्रह, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>10</sup> पट्टमण्डाम में अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा ये शब्द अवग्रह के निरप्रयुक्त हुए हैं।<sup>11</sup>

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैदंचयिक।

जपत्रह के दो भद्र हैं—व्यावहारिक वार्ता और नीतियाँ।  
नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाले  
होता है और व्यावहारिक अवग्रह विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने वाले  
होता है। नैश्चयिक अवग्रह के पश्चात् होने वाले इहां, अवाय ने जिन्हें  
विद्येय धर्मों की मीमांसा हो गई होती है, उसी वस्तु के नूतन-नूतन धर्मों  
की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का कार्य है। आग  
के द्वारा एक धर्म का निश्चय होने के पश्चात् उसी पदार्थ मम्बनी अन्न  
धर्म की जिज्ञासा होती है, उस समय पूर्व का अवाय व्यावहारिक-अर्थात्  
हो जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए पुनः इहां और अपाय होता  
है। प्रस्तुत क्रम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासाएँ पूर्ण नहीं होनी।

'यह शब्द ही है' इम प्रकार निश्चय होने पर नैशनल आप्स से प्रभाग ममान हो जाती है। उसके पश्चात् व्यावहारिक-अर्थावगती आंग नड़नी ? ।

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है। (मणि-पुस्तक)  
माना जा।)

(३) भाषा याक और स्पष्ट है उसकिए मानव की होनी चाहिए।

( १ ) प्रवाय परीक्षा विशेष के बाद निष्ठा करना मात्र ॥ ४

二三



ईहा मे ज्ञान उभयकोटियों मे से एक कोटि की ओर छुक जाता है। मग्न ज्ञान मे उभय-कोटियाँ समकक्ष होती है जबकि ईहा ज्ञान एक कोटि की ओर ढल जाता है। यह सही है कि ईहा मे पूर्ण निर्णय या पूर्ण नित्य नहीं हो पाता है तथापि ईहा मे ज्ञान का छुकाव निर्णय की ओर अवश्य होता है। यही सशय और ईहा मे बड़ा अन्तर है।<sup>१</sup> ध्वला मे भी क्या है—ईहा ज्ञान सन्देह रूप नहीं है क्योंकि ईहात्मक विचार-त्रुटि मे सन्देह का विनाश पाया जाता है।<sup>२</sup> इस प्रकार ईहा ज्ञान सशय का परनादामात्र निश्चयीभिसुख ज्ञान है।

नन्दीमूत्र मे ईहा के लिए निम्न शब्द व्यवहृत हुए हैं—आभोगता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता, विभर्ष।<sup>३</sup> तत्त्वार्थभाष्य मे ईहा, झह, झह, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये शब्द आये हैं।<sup>४</sup>

### अवाय

मतिज्ञान का तृतीय भेद अवाय है। ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निर्णय करना अवाय है।<sup>५</sup> दूसरे शब्दों मे विशेष के निर्णय द्वारा जो यथां ज्ञान होना है, उसे अवाय कहते है। जैसे उत्पत्तन, निपत्तन, पक्ष-विक्षेप आदि के द्वारा 'यह वक पक्ति ही है, व्यजा नहीं,' ऐसा निश्चय होना आवाय है।<sup>६</sup> इसमे सम्यक् असम्यक् की विचारणा पूर्ण रूप से परिपाव हो जाती है और असम्यक् का निवारण होकर सम्यक् का निर्णय हो जाता है।

विशेषावश्यन मे एक मत यह भी उपलब्ध होता है कि जो गुण पराम

- १ नन्दी हापा निर्णयित्वात् सशयन्वप्रसाग इति, तन्न, कि वारणम् ? गा रात् । प्राग्नाम् तद्विषेपोत्तद्व्यव्यंस्यदानमीहा । सशय पुरार्थित्वा वाप्तत । पूर्व सशयित्वात्तरकान् विशेषोपतिष्ठा प्रति वारणीं सशयाद्यां वाप्तम् । —राजवार्तिक २१७, भारतीय ग्रन् ।
- २ नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा ।

—शब्दना २८—२१८ ।

३ नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा । नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा ।

—नन्दी हापा, गृन् ५२, गृन् ५० गृन् ५१ ।

४ नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा । नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा ।

—नन्दी हापा ।

५ नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा । नन्दी हापा विश्वरुद्धोरो मन्दर्हिणामुवत्तमा ।

—नन्दी हापा ।



जो परम्परा इस ज्ञान को निषेधात्मक मानती है उसमें विशेषत्व में अपाय गद्व का प्रयोग हुआ है।<sup>9</sup>

जिस परम्परा में अवाय मात्र विद्यात्मक है उसमें प्रायः अवाय गद्व का प्रयोग हुआ है।<sup>3</sup> वस्तुतः यह ज्ञान धारणा की कोटि में पहुँचने के पश्चात् ही पूर्ण निश्चित होता है, एतदर्थ ही यह मतभेद है। अवाय कुछ न्यूनता अवध्य रहती है। विद्यात्मक मानने पर भी उसकी हठावश धारणा में हो मानी है, एतदर्थ दोनों परम्पराओं में विशेष मतभेद की स्थिति नहीं रहती है।<sup>3</sup>

धारणा

मतिज्ञान का चौथा भेद धारणा है। अवाय के पश्चात् धारणा ही है। उसमें ज्ञान इतना हृद हो जाता है कि उसका स्वरूप अन्तर्रात्मा प्रक्रित हो जाता है और इस कारण वह कालान्तर में स्मृति का हेतु बनता है। इसीलिए धारणा को स्मृति का हेतु कहा है।<sup>५</sup> धारणा मम्येय और अमम्येय काल तक रह सकती है।<sup>६</sup> विषेषावश्यक में कहा है—ज्ञान में अविच्युति धारणा है।<sup>७</sup> जिस ज्ञान का स्वरूप शीघ्र नष्ट न होता चिरम्यायी रह सके और स्मृति का हेतु वन सके वही ज्ञान धारणा है।

धारणा के तीन प्रकार हैं—

(१) अविच्युति—धारणा काल में जो सतत उपयोग चलता है अविच्युति है। उसमें पदार्थ के ज्ञान का विनाश नहीं होता है।

(२) वासना—उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के स्थान परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष में उद्ग्रह होती है। वासना अपने आप में जान नहीं है।

— 'न दाविणात्मोऽयम्' इत्यगाग याम वरोहि त  
 'वीरोऽपि' इत्यत्त्वागोऽस्माकं वारीत यदा च 'वीरोऽपि' इत्यवाचं कराति ॥  
 'वीरोऽपि-याऽयम्' इत्यपाप्नोऽप्नुवीत ।

Digitized by srujanika@gmail.com

ੴ ਸਤਿਗੁਰ ਪ੍ਰਸਾਦਿ ਮਿਸ਼ਨ ਸੀਰੀਜ਼, ਮਿਲਨਪੁਰ ਵੀਜ਼

二二二 “人間の喜び

• 5 • 1 4 3 3 1

" 15 113 4436-5 51

卷之三

— प्रसारणीयाम् २१७  
— अ. शिवा, ना २१, ३४,  
५१, ६०८-११



'व्यजन' के तीन अर्थ हैं—(१) शब्द आदि पुद्गल द्रव्य (२) उपकरण इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय (३) विषय और उपकरण इन्द्रिय का मयोग। व्यजन अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकर्ता हैं। इन दोनों में व्यजनावग्रह नहीं होता।

वीद्वदर्शन श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानता है। नेयायिक-वैदेशिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नहीं मानते हैं, किंतु जैनदर्शन की विचारधारा उन दर्शनों में भिन्न है।

श्रीव व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रीव ने मृत्ति होता है, वही उसका विषय बनता है। एतदर्थं श्रीव को अप्राप्यकर्ता नहीं कह सकते। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं एतदर्थं व दोनों प्राण्यकागी नहीं हो सकते वयोऽकि दोनों का ग्राह्य-वस्तु के माय मत् नहीं होता।

वैज्ञानिक दृष्टि से चक्षु में वृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिविम्ब पड़ा है, जिसमें चक्षु अपने विषय का ज्ञान करती है। नैयायिक मानने के लिए चक्षु प्राप्यकारी है क्योंकि चक्षु की मूढ़म-रणियाँ पदार्थ से मधृत होती हैं। विज्ञान उस बात को नहीं मानता। वह आँख को बहुत विडियो लेंस (sensitive lens) मानता है। उसमें दूर की वस्तु का नियंत्रित आकार होता है। उसमें जैनदृष्टि की अप्राप्यकारिता में किसी भी प्रकार की व्यापक नहीं आती क्योंकि विज्ञान ने अनुमार भी चक्षु का पदार्थ के साथ गमन नहीं होता। काँच निर्मल है, उसके सामने जो वस्तुएँ आती हैं। उस प्रतिविम्ब उसमें गिरता है, ठीक उसी प्रकार की प्रतिविम्ब आग तक पहुँची गयी है और आने पर होती है। काँच में वस्तु का प्रतिविम्ब गिरता है, वस्तु और प्रतिविम्ब एक नहीं होते, एकदर्थ काँच उस वस्तु में गाँठ नहीं बढ़ाता। ठीक यही बात आँख के लिए भी है।

नहीं बोलता। याक यहां नात आम के लिए भा ह।  
बर्याप्यट, रुग्ण, अवाय और धारणा में जारी पानि उन्द्रिय श्री ११  
१५ में होती है, वह उन्हें ८-१५ भेद होते हैं। यजना १५/११  
पार चल गी आदम जीन जार उन्द्रियों में होता है, उम्मीदगा १५/११  
१५/११। इस १५/१५ प्रसार के बासों में देवामा गाया  
१५/१५ प्रसार जाते हैं फिर (१) वह, (२) वटविदा, (३) श्री, (४)  
१५/१५ विष्णु, अविष्ट, (५) अग्निवत, (६) विष्णु, (७)  
१५/१५ वृत्त, (८) वृत्त, (९) वृत्त, १५/१५



जिसमें सदृश पाठ हों वह गमिक श्रुति है और जिसमें असदृशान्तर लापक हो वह अगमिक श्रुति है।

अगप्रविष्ट और अगवाहा का स्पष्टीकरण पूर्व पंचितयों में दिया जा चुका है।

### मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में कुछ वाते ममले आवश्यक हैं।

प्रत्येक ससारी जीव में मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं। प्रत्येक यह है कि ये ज्ञान कब तक रहते हैं? केवलज्ञान हीने के पूर्व तक मन्त्र या वाद में भी रहते हैं? इसमें आचार्यों का एकमत नहीं है। किन्तु आचार्यों का अभिमत है कि केवलज्ञान की उपलब्धि के परनार्थ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता रहती है। जैसे दिवाकर के प्रनाण प्रणाली के सामने गह और नक्षत्रों का प्रकाश नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार केवलज्ञान के महाप्रकाश के समक्ष मतिज्ञान भी श्रुतज्ञान का अल्प प्रकाश नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित हो जाता है। दूसरे आचार्यों का मन्त्रव्य है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। जब सम्पूर्ण स्पृष्टि में ज्ञानारणी कर्म का क्षय होता है तब क्षायिक ज्ञान प्रकट होता है, जिसे कोरा भी कहते हैं। उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता, उत्तिष्ठा भी। ज्ञान हीने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता नहीं रहती। प्रथम मन्त्र और शास्त्राद्विग्रह मत अधिक तर्कमगत व वजनदार है, और जैनरांग भवताम है।<sup>१</sup>

एत-अनुग्रामी माभिनाम (शब्द सहित) ज्ञान मतिज्ञान है।

एत-अनुग्रामी माभिनाम (शब्द सहित) ज्ञान श्रुतज्ञान है।

मनिज्ञान माभिनाम और अनभिनाम दोनों प्रकार का होता है।<sup>२</sup>  
इनमें माभिनाम ही होता है।<sup>३</sup> अर्थात् यों दोनों माभिनाम

<sup>१</sup> अनुग्रामी—ग्रन्थ मन्त्रालय मन्त्रा, पृ० २२६

<sup>२</sup> अनुग्रामी—प्रथम विषयादिग्मिति ग्रन्थ मन्त्रालय वर्तमानीति।

<sup>३</sup> अनुग्रामी—प्रथम विषयादिग्मिति। विषय ग्रन्थ वार्षिक।

<sup>४</sup> अनुग्रामी—ग्रन्थ मन्त्रालय विज्ञापनाना वर्तमानीति।



ज्ञान पूर्व संस्कार से पैदा हुआ, एतदर्थे इसे श्रुत-निश्चित कहा जाता है।<sup>१</sup>  
ज्ञानकाल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, एतदर्थे इसे श्रुत का नहीं  
नहीं माना जाता।

मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान वस्तु<sup>२</sup>  
भूत और भविष्य इन तीनों विषयों में प्रवृत्त होता है। प्रस्तुत विषय  
भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोंने  
नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान इन्हीं  
जन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख युक्त है वह श्रुतज्ञान है<sup>३</sup>  
जिसमें शब्दोल्लेख नहीं होता वह मतिज्ञान है। दूसरे शब्दों में कह मर्हे  
हैं इन्द्रिय और मनोजन्य एक दीर्घं ज्ञान व्यापार का प्राथमिक अपरिगत  
अश मतिज्ञान है और उत्तरवर्ती-परिपक्व व स्पष्ट अश श्रुतज्ञान है।<sup>४</sup>  
ज्ञान भाषा में उत्तारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो ज्ञान भाषा में  
उत्तारने युक्त परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान को तो  
दूध कहे तो श्रुतज्ञान को खीर कह सकते हैं।<sup>५</sup>

### अवधिज्ञान

जिम ज्ञान की सीमा होती है उसे अवधि कहते हैं। अधिगत  
वेवल स्पी पदार्थों को ही जानता है।<sup>६</sup> मूर्तिमान द्रव्य ही इसके जेय रिय  
की मर्यादा है। जो सूप, रस, गन्ध और स्पर्श युक्त है, वही आपि<sup>७</sup>  
निषय है, अस्पी पदार्थों में अवधि की प्रवृत्ति नहीं होती। पद्मरागों में  
जैव पुद्गल द्रव्य ही अवधि का विषय है क्योंकि योपांचो द्रव्य नहीं  
है। जैव पुद्गल द्रव्य ही स्पी है। अथवा द्रव्य, धोथ, काग और भारा  
कोंशा में उमरी अनेक मर्यादाएँ बनती हैं। जैसे जो ज्ञान इतने द्रव्य का  
भार और भाव का ज्ञान करता है उसे अवधि कहते हैं।<sup>८</sup>

१ विषय-परोगः व्यवहारानात् ॥ १ ॥

२ उमरा गम्भारानस्पो गम्य तत् गुलशुतोगम्भारम्, यत् गुल-

३ विषय-तत्य पूर्वप्रयुक्तय गम्भारापायक श्रवण्या नानामा ॥ १ ॥

४ नविष्मयः ॥ १ ॥ —विषेषावश्यगम्भार ॥ १ ॥

५ गुरुनानं जी पृ० ३५-३६

६ विषय-परोगः, यत् गुलशुतोगम्भारम् ॥ १ ॥

७ विषय-परोगः, यत् गुलशुतोगम्भारम् ॥ १ ॥



उत्तर मे निवेदन है कि अवधिज्ञान से लिए अवधिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम आवश्यक है। किन्तु अन्तर यह है कि देवों और नारकों का क्षयोपशम भवप्रत्ययक होता है, वहाँ पर जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो ही जाता है, किन्तु मनुष्य व तिर्यक के लिए यह नियम नहीं है। उन्हे विशेष रूप से नियम आदि का पालन करना होता है तब जाकर अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। क्षयोपशम दोनों मे आवश्यक है। अन्तर केवल साधन मे है। जो जीव जन्म-ग्रहण करने मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है, जिन्हे इससे विशेष श्रम करना पड़ता है उनका अवधिज्ञान गुणप्रत्यय है। जैसे पर्णिमा को जन्म लेते ही उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, पर मानव मे नहीं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं—

(१) अनुगामी—जिस क्षेत्र मे स्थित जीव को अवधिज्ञान उत्तर होता है उससे अन्यत्र जाने पर नेत्र के समान जो साथ-साथ जानवना रहे।

(२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र मे जाने पर जो न रहे।

(३) वर्धमान—उत्पत्ति के समय मे कम प्रकाश-मान हो और गाँ मे क्रमण नहे।

(४) हीयमान—उत्पत्ति-काल मे अधिक प्रकाशमान हो और गाँ मे क्रमण पड़े।

(५) अप्रतिपाती—जीवन-पर्यन्त रहने वाला, अथवा कोआजा पर्याप्त होने तक रहने वाला।

(६) प्रगिरानी—उत्पन्न होकर जो पुन नहा जाए।

‘‘तात्त्वानां नामानां तेऽगेद् भेद स्वामी के गुण की ट्रिटि में लिखा है—  
‘‘तात्त्वानां गुणानां च प्रकाश आदि की ट्रिटि मे तीन गंडि लिखा है—  
‘‘गंडि,



जैसे सूर्य में प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवल दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं।<sup>१</sup>

तीसरी परम्परा चतुर्थ शताब्दी के महान् दार्शनिक आचार्य मिद्दन दिवाकर की है। उन्होंने सन्मति तर्क प्रकरण में लिखा है कि मनसः तक तो ज्ञान और दर्शन का भेद सिद्ध कर सकते हैं किन्तु केवल ज्ञान के दर्शनावरण और इन वरण का युगपद् क्षय होता है। उस क्षय से होने वाले उपयोग में प्रथम होता है, यह बाद में होता है। इस प्रकार का भेद किम प्राप्त किया जा सकता है? केवल्य की प्राप्ति जिस समय होती है उमस्या मर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है, उसके पश्चात् ज्ञानावरण, इन वरण और अन्तराय का युगपद् क्षय होता है। जब दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनों के क्षय में काल का भेद नहीं है तब यह किम इन कहा जा सकता है कि प्रथम केवल दर्शन होता है किर केवल ज्ञान। इस ममस्या के समाधान के लिए कोई यह माने कि दोनों का युगपद् मर्व है, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। इस ममस्या का मवरो मरल व तर्कसंगत समाधान यह है कि दर्शन और ज्ञान अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता। दर्शन और ज्ञान पृथक्-पृथक् मानने में एक ममस्या और उत्पन्न होती है। यदि केवल इनी क्षण में गभीर कुछ ज्ञान नेता है तो उसे सदा के लिए मन कुछ नहीं रहना चाहिए। यदि उमस्या ज्ञान सदा पूर्ण नहीं है तो वह मर्व नहीं है। यदि उमस्या ज्ञान मर्वन पूर्ण है तो क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उत्पन्न हो जाए। वह मदा प्रकाश है। वहाँ पर दर्शन और ज्ञान में किसी भी परंपरा नहीं है।

? ॥५॥ इति रामायण, चतुर्णाणिम् दग्ध च तदा ।

॥५॥ रामायणात् जट वटठड तट गुणेण ॥ —निष्पात्र मात्र ॥

॥५॥ रामायण रामायण गदग्निम् गदग्निम् गदग्निम् ॥

॥५॥ रामायण रामायण निष्पात्र मात्र ॥ —मात्र ॥ ५॥

॥५॥ रामायण ममायण कम्म पूर्ववर ॥

॥५॥ रामायण गदग्निम् गदग्निम् गदग्निम् ॥ —गदग्निम् ॥

॥५॥ रामायण ममायण ममायण ममायण ॥

॥५॥ रामायण ममायण ममायण ममायण ॥ —ममायण ॥



### उपसंहार

इस प्रकार आगमयुग से लेकर दार्शनिकयुग तक ज्ञानवाद पर गहराई से चिन्तन किया गया है। यदि उस पर विस्तार के साथ लिखा जाय तो एक विराट्काय स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है, पर संक्षेप में ही प्रस्तुत निवन्ध में प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठ्कों को यह परिज्ञात हो सके कि जैन दार्शनिकों ने ज्ञानवाद पर कितना स्पष्ट विवार प्रस्तुत किया है।



सवादी प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनों का व्यवहार सभी द्वारा सम्मत है, परन्तु ये प्रामाण्य के प्रमुख नियामक नहीं हो सत्ते। सवादकज्ञान प्रमेयाव्यभिचारीज्ञान की तरह व्यापक नहीं है। प्रवृत्ति निर्णय में सत्य-तथ्य के साथ ज्ञान भी आवश्यक है, वैसे प्रत्येक निर्णयः सवादकज्ञान आवश्यक नहीं है, सत्य को वह कभी-कभी प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थसिद्धि का द्वितीय रूप है। वह जब तक कलदार परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं हो जाता तब तक सत्य नहीं होता। यह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान का भेल होता है कहीं पर वह सत्य का परीक्षण-प्रतर भी बनता है एतदर्थं इसे अमन नहीं कर सकते।

### ज्ञान का प्रामाण्य

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, पर प्रश्न यह है कि कौनसा ज्ञान सम्याः और कौनसा मिथ्या है? ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहते हैं? प्रामाण्य क्या है? प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परिभाषा क्या है?

उत्तर है—जैन-तांत्रिकों ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निरास्त स्वत या परत माना है। किसी समय प्रामाण्य का निश्चय स्वत माना है और किसी समय प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए दूसरे माध्यनों सहारा लेना पड़ता है। मीमांसक स्वत प्रामाण्यवादी है, नैयायिक परा प्रामाण्यवादी है। मीमांसकों का स्पष्ट मन्तव्य है ज्ञान स्वयं प्रमाणस्य वाता-दोष के कारण ही उसमें अप्रामाण्य आता है। ज्ञान के प्रामाण्य-तिर्यकों ने तिए अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। प्रामाण्य अपने आपमध्य होता है और ज्ञात होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञात होती है, एवं दर्शन यह स्वत प्रामाण्यवाद कहताता है। नैयायिक प्रामाण्यवाद को स्वीकार नहीं करता है। इस दर्शन का माना है—जैन प्रमाण या अप्रमाण, उसका निर्णय किंगी वाला आधार में ही है। जो ज्ञान अथं में अव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और अर्थात् चारी है। वह अप्रमाण है। वाल्य वर्गनु ही प्रामाण्य और अप्रमाण है। इसके ज्ञान अपने-आप में प्रमाण है और न अप्रमाण है। इसके ज्ञान जाना है तब प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय है। वैर्मा ही परिज्ञान होना ज्ञान की प्रमाण है। इसके ज्ञान अप्रमाण है। यह नैयायिकों का प्रयुक्ति निर्णय है।



अर्थ का सम्यक् स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। विना प्रमाण-अप्रमाण के विवेक के अर्थ के यथार्थ व अयथार्थ स्तर का परिज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में इसी बात को यो कह सकते हैं कि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान से निवृत्ति है। सभी ज्ञानों का फल साक्षात् फल है। पर परम्परा-फल सब ज्ञानों का एक नहीं है। केवल ज्ञान का फल मुख और उपेक्षा है और अवशेष ज्ञानों का फल ग्रहण-वृद्धि है तथा त्याग-वृद्धि है।<sup>१</sup> सहस्ररात्रिम सूर्य के उदय से अन्धकार का पूर्ण रूप में न हो जाता है, वैसे ही प्रमाण से अज्ञान नष्ट हो जाता है। यह साधारण नहुआ। अज्ञान विनष्ट होने से केवल ज्ञानी को आत्म-मुख की उपनिषद्वितीय है और उसका ससार के पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव रहता है। उत्तराहेतु के कारण केवली के लिए न कोई वस्तु उपादेय होती है, न हैय। अत व्यवितयों के लिए अज्ञाननाश का फल निर्दोष वस्तु के प्रति ग्रहण-वृद्धि और सदोष वस्तु के प्रति त्याग-वृद्धि उत्पन्न होना है। अर्थात् सत्ता में प्रवृत्ति होती है और असत्कार्य से निवृत्ति होती है।

प्रमाण-संख्या

प्रमाण-सत्या। प्रमाण की सत्या के विषय में भारत के दार्शनिकों में एकमत नहीं रहा है। चार्वाकदर्शन एकमात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। मात्रदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण माने हैं। न्यायादर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। प्रसाद मीमांसादर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति में पाँच प्रमाण माने हैं। भट्ट मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने गये हैं। वौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष, अभाव व दो प्रमाण माने हैं।

गोदगत में प्रमाणों की सहाया के बिषय से तीन मत हैं।

अनुमान का नामा के विषय में लोकों का अनुमान गुप्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमाण है। इसका एक अनुमान अनुमान द्वारा दिया जाता है। आगम ये विद्यों के बारे में विवरण देता है। अनुमान और आगम ये लीन प्रमाण माने जाते हैं। उपमाण

‘ 50. I am very sorry to say,

2010-2011 学年第二学期期中考试卷



ही एक अश है। वस्तु भाव और अभाव उभयात्मक है। दोनों का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है। जहाँ हम किसी के भावाश का ग्रहण करते हैं कि उसके अभावाश का भी ग्रहण हो जाता है। वस्तु भाव और अभाव इन रूपों के अतिरिक्त तीसरे रूप में नहीं मिलती। जिस दृष्टि से एक वस्तु भी रूप है, दूसरी दृष्टि से वह अभाव रूप है। भाव रूप ग्रहण के साथ जैसे रूप का भी ग्रहण हो जाता है। अतएव दोनों अश प्रत्यक्षग्राह्य हैं। वह अभाव प्रमाण की आवश्यकता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें 'इस टेवल पर पुरतक नहीं है' यह अभाव का वृष्टान्त है। यहाँ पर अभाव प्रमाण पुरतक भाव को ग्रहण करना है। यह पुस्तकाभाव क्या है? इस पर हम चिन्ता करे तो स्पष्ट होगा कि यह पुस्तकाभाव शुद्ध टेवल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिस टेवल पर हमने पूर्व पुस्तक देखी थी, उसी टेवल को शुद्ध टेवल के रूप में देख रहे हैं। यह शुद्ध टेवल ही पुस्तकाभाव है, इस दर्जन प्रत्यक्ष हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अभाव प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है।

### प्रत्यक्ष का लक्षण

जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का लक्षण वैश्वाय या स्पष्टता माना है।<sup>१</sup> मिद्दरेन दिवाकर ने अपरोक्ष रूप से अर्थ का ग्रहण करना प्रत्यक्ष माना है।<sup>२</sup> उस लक्षण में परोक्ष का स्वरूप जब तक समझ में नहीं आ जाता तब तक प्रत्यक्ष का स्वरूप समझा नहीं जा सकता। अनन्त विद्याग्विनिश्चय में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।<sup>३</sup> उनके लक्षण 'माहार' और 'अज्जसा' पद आये हैं अर्थात् साकार ज्ञान जब अज्जसा 'माहार' परमार्थ में विशद हो तब वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जैन दर्शन गैरिकादर्शन की भाँति सन्धिकरण को या वीद्वदर्शन की तरह कल्पना॥<sup>४</sup> गांधीय धर्म का नदान नहीं माना गया है।

वैग्राय फिर कहता है? जिग प्रतिभाग के निए फिरी गति॥<sup>५</sup>

<sup>१</sup> (१) विग्रह प्र-प्रत्यक्षः।

—प्रपाणप्रापाणः॥॥॥

(२) विग्रह प्र-प्रत्यक्षः।

—प्रमाणप्रापाणः॥॥॥

(३) विग्रह प्र-प्रत्यक्षितः।

—प्रीतिः॥॥॥

(४) विग्रह प्र-प्रत्यक्ष ज्ञानमीर्गम्।

माया॥॥॥

(५) विग्रह प्र-प्रत्यक्ष यत्प्रथम्या॥

—प्राप्तिः॥॥॥

(६) विग्रह प्र-प्रत्यक्ष माहार-ज्ञानः।



### अनुमान

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं।<sup>१</sup> साधन के लिंग और साध्य को लिंगी भी कहते हैं, अत इस प्रकार भी कह सकते हैं कि लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।<sup>२</sup> लिंग का अर्थ चिह्न है और लिंगी का अर्थ उस चिह्न वाला है। जैसे धूम से अग्नि को जान सकते हैं अनुमान है। यहाँ धूम साधन अर्थात् लिंग है, अग्नि साध्य अर्थात् लिंगी है। अग्नि का चिह्न धूम है। किसी स्थल पर धुआँ उठता हुआ दिखलाइ देता है, तो ग्रामीण लोग धुएँ को देखकर सहज ही यह अनुमान करते हैं। वहाँ पर आग जल रही है। विना अग्नि के धुआँ नहीं उठ सकता। इसकी ऐसे किसी अविनाभावी चिह्न को निहार कर उस चिह्न वाले को जान सकते हैं अनुमान है।

साधन या लिंग इस प्रकार का होना चाहिए, जो साध्य या लिंगी के अविनाभावी रूप से सुनिश्चित हो अर्थात् जो साध्य के होने पर ही हो ये साध्य के न होने पर न हो। ऐसा साधन ही साध्य की सम्यक् प्रतीक कराता है। अकलकदेव ने साधन या लिंग को 'साध्याविनाभावाभिः बोधेकलक्षणं' कहा है। अर्थात् साध्य के साथ सुनिश्चित अविनाभाव साधन का प्रधान लक्षण है। सक्षेप में इसे अन्यथानुपपत्ति भी कह सकते हैं।<sup>३</sup> अन्यथा अर्थात् साध्य के अभाव में साधन की अनुपपत्ति अर्हता ही होता। जो साध्य के अभाव में नहीं रहता हो और साध्य के सम्भाव ही रहता हो वही सच्चा साधन है। साधन को हेतु भी कहते हैं।

नार्तकिदर्शन को छोड़कर शेष सभी पीवार्त्यदर्शनों ने अनुमान प्रमाण माना है। नार्तकी दार्शनिक अनुमान को इसीलिए प्रमाण नहीं माना।<sup>४</sup> क्योंकि वे यिंगी अतीन्द्रिय पदार्थ में विश्वास नहीं करते। जिन दर्शनों द्वारा मान की प्रमाण माना है, उन्होंने अनुमान के दी भेद किये हैं—<sup>५</sup> याहाँ मान और परार्थानुमान।

<sup>१</sup> (१) शास्त्र गायविज्ञानमनुपानम्।

—प्रमाणमीयागाः ?  
—गीयाम् ॥

(२) शास्त्र गायविज्ञानमनुमानम्।

—विश्वास ॥ ३ ॥

<sup>२</sup> शास्त्र गायविज्ञान गाननिवार्ता लभणात् लित्तु धीरत्पात्।

—प्रमाणार्थीता ॥ ३ ॥

३ शास्त्र गायविज्ञान लित्तु सम्यते।

—प्रमाणार्थीता ॥ ३ ॥



## □ कर्मवाद : एक सर्वेक्षण

- कर्मवाद का महत्त्व
- कर्म सम्बन्धी साहित्य
- कर्मवाद व अन्यवाद
- कालवाद
- स्वभाववाद
- नियतिवाद
- यद्यच्छयावाद
- ज्ञूतवाद
- पुरुषवाद
- देववाद
- पुरापार्यवाद
- जैनदर्शन का मन्तव्य
- कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा
- गोदावर्जन में कर्म
- विद्वाण यज्ञन
- कर्म वा अर्थ
- रिभिन्न परम्पराओं में कर्म
- गोदावर्जन में कर्म का स्वरूप
- ग्रामा और कर्म का सम्बन्ध  
कर्म का वौधारणा है ?  
कर्म वा अर्थ का कारण
- नियतवाद और अन्यवाद  
कर्म वा कर्मवाद और भोगत्व  
कर्म वा सर्वान्न
- उत्तर  
कर्मवाद में व्रात वा कर्म के हेतु
- दूसरों के द्वारा उवय में आते हैं  
कर्म के हेतु
- पुरुषार्थ से भाग्य में परिवर्तन हो  
सकता है ?
- आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अपी ?
- उदीरणा
- उदीरणा का कारण
- वेदना
- निर्जरा
- आत्मा पहले या कर्म ?
- जनादि का अन्त कैसे ?
- आत्मा बलवान् या कर्म ?
- कर्म और उसका फल
- ईश्वर और कर्मवाद
- कर्म का संविभाग नहीं
- कर्म का कार्य
- आठ कर्म
- कर्म-फल की तीव्रता मात्रा।
- कर्मों के प्रदेश
- कर्म-अन्त
- वन्ध, सत्ता, उत्तर्वता, उत्तर्प, आत्मा,  
आपार्य, सत्रमण, उत्तर, उत्तरा,  
उपदामन, निष्ठनि, तिष्ठि।  
अयाधारात्
- कर्म और पुनर्जन्म
- कर्म-बन्धन में मुक्ति का उपाय।



कर्म सम्बन्धी साहित्य

भगवान महावीर से लेकर आज तक कर्मशास्त्र का जो सर्वाकालन हुआ है वह वाह्य रूप से तीन विभागों में विभक्त किया जा रहा है—पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

जैन इतिहास की हृष्टि से चीदह पूर्वों में से आठवाँ पूर्व जिसे 'प्रवाद' कहा जाता है उसमें कर्म विपयक वर्णन था, इसके अतिरिक्त पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्म प्राभृत' था और पांचवं पूर्व के एक विभाग का नाम 'कपाय प्राभृत' था। इनमें भी कर्म सम्बन्धी ही चर्चाएँ थीं। जो वे अनुपलब्ध हैं किन्तु पूर्व-साहित्य में से उद्घृत कर्म-शास्त्र आज भी दर्शाते हीं जैन-परम्पराओं में उपलब्ध हैं। सम्प्रदाय भेद होने से नामों में भिन्न होना स्वाभाविक है। दिगम्बर परम्परा में 'महाकर्मप्रकृतिशास्त्र' (पटखण्डागम) और कपय प्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्व से उद्घृत माने जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कर्मप्रकृति, शतक, पचस ग्रह और सप्ततिंग ये चार ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं।

प्राकरणिक कर्मणास्त्र में कर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ आते हैं, तिना मूल-आधार पूर्वद्वित कर्म-साहित्य रहा है। प्राकरणिक कर्मग्रन्थों नेचन विक्रम की आठवीं-नवीं शती से लेकर सोलहवीं-सतरहवीं शती तक दृश्या है। आधुनिक विज्ञों ने कर्म-विषयक साहित्य का जो सूजन तिना; वह मुख्य रूप से कर्मग्रन्थों के विवेचन के रूप में है।

भागा की इष्टि मे कर्म साहित्य को प्राकृत, मस्तुत और प्रार्थित  
भागाओं मे निभत्त कर सकते है। पूवतिमक व पूवोंदिभूत कर्मगत्य प्रार्थित  
भागा मे । प्रार्थणिक कर्म साहित्य का विशेष अप्पा प्राकृत मे ही है,  
मुख्यकों द अनिरिक्षन उन पर तिरी गई वृत्तियाँ और टिप्पणियाँ भी पाए  
गे । नारि मे कुछ कर्मगत्य मस्तुत मे भी लिंग गत किन्तु मुख्य ।  
गत भागा मे उस पर वृत्तियाँ ही लिरी गई है । मस्तुत मे ॥ १ ॥  
॥ २ ॥ एवं दृष्टि प्रार्थणिक कर्मगत्य मे आते है । प्रार्थणिक भागा ॥  
॥ ३ ॥ तथा अप्प-साहित्य कर्म, मुजगानी और हिन्दी मे है । जन्म मी ॥  
॥ ४ ॥ तथा २५ अप्प, अनवाद और विवेचन ही मुख्य ॥ ॥ ५ ॥



कुछ चिन्तन करे और उसके पश्चात् उनको लक्ष्य में रखकर कर्मपर विचार करे। विश्व-वैचित्र्य के कारणों की अन्वेषणा करते हुए कर्मवाद स्थान पर कितने ही विचारक इस बात की स्थापना करते हैं कि सासार की उत्पत्ति का आदि कारण काल है। कितने ही विचारक स्वभाव को ही विश्व का कारण मानते हैं। कितने ही विचारक नियति पर वल लेते हैं। कितने ही विचारक यद्यच्छा को ही विश्व का कारण रवीकार करते हैं। कितने ही विचारक पृथ्वी आदि भूतों को ही सासार का कारण मानते हैं तो कितने ही विचारक पुरुष या ईश्वर को ही सासार का कर्ता कहते हैं। सक्षेप में उनका परिचय इस प्रकार है।<sup>१</sup>

### कालवाद

कालवाद के समर्थकों का मन्त्रव्य है कि विश्व की सभी वस्तुएं और प्राणियों के सुख और दुःख काल के अधीन हैं। काल से ही भूतों की सृष्टि और सहार होता है। वह शुभाशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाला है। अथर्ववेद में काल नामक एक स्वतन्त्र सूक्त है उसमें लिखा है—काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है, काल के आधार पर सूर्य तपता है। काल आधार पर ही समर्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही आये देरारी है। काल ही ईश्वर है वह प्रजापति का भी पिता है। काल सर्वप्रथम दो जीव मृष्टि के सुख-दुःख, जीवन-मरण इनका आधार काल माना है। प्राणवातांगमुच्चय में कहा है—किसी प्राणी का मातृगर्भ में प्रोत्सर्ग प्राणवात्स्या प्राप्त करना, शुभाशुभ अनुभवों से सम्पर्क होना प्रभृति पद्धति।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> राम शर्मा ॥ विष्णिवेदन्दा भूतानि योनि तुरुपदतिनित्यम् ।

गयाग एवा न स्थात्मगारादात्मायनीश मुण्डुपाठ्यो ॥

—शोतानामागार्हाण्डी ॥

(१) रघु—प्राचीमीमांसा पृ० ८६-८८ प० दत्तमुग मानविणा

(२) जेन गादिन्य ३१ वृहद उपनिषद, भाग ४, प० ८

(३) रघु और इर्ष्ण ३१-४१-४२ प० मोहन जान माता ॥

अ० ११११ ११, १३-१५

११२१-११२२ १३ मुकुट

११२२-११२३ १३, १४, १५ वर्षा



जायेगी ।<sup>१</sup> स्वभाववादी प्रत्येक कार्य को स्वभावमूलक मानता है<sup>२</sup> कि विश्व की विचित्रता का किसी नियन्त्रक या नियामक को नहीं मानता ।

### नियतिवाद

नियतिवादियों का अभिमत है कि संसार में जो कुछ होता होता है वही होता है, उसमें किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता । घटनाओं में अवश्यम्भावित्व पूर्व-निर्धारित है । संसार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है । इच्छा-स्वातन्त्र्य का कुछ भी मूल्य नहीं है, या दूसरे शब्दों में कहे तो इच्छा-स्वातन्त्र्य नामक कोई वस्तु नहीं है । पाश्चात्य दार्शनिक रिपनोजा का यह मन्तव्य था कि मानव केवल अपने ज्ञान के कारण इस प्रकार विचार करता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूँ । जो तो भी होने वाला है वह अवश्य होगा । जैसे अतीत को हम बदल नहीं सकते हैं वैसे ही भविष्य भी बदला नहीं जा सकता, अत आशा और निराशा इसके में झूलना उचित नहीं । सफलता मिलने पर किसी की प्रशंसा दर्श और विफलता प्राप्त होने पर किसी की निन्दा करना उचित नहीं है ।

नियतिवाद का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है किन्तु उसमें या अन्य उपनिषदों में इस वाद के मम्बन्ध में कोई विस्तृ प्रकाश नहीं ढाना गया । परन्तु बोद्ध श्रिविटकों में व जैनागमों में नियतिवाद के मम्बन्ध में विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है । दीघनिराम मामञ्जफल सुत्त में मखली गोशानक के नियतिवाद का वर्णन करते हुए निराम है कि वह मानता था कि प्राणियों की अपविश्वता का कुछ भी कारण नहीं है । वे कारण के बिना ही अपविश्व होते हैं, उमी प्रकार प्राणियों ॥ युद्ध का भी कोई कारण नहीं, वे बिना कारण ही शुद्ध होते हैं ॥ ॥ मामञ्ज के बन पर कुछ भी नहीं होता । पुरुष के सामर्थ्य के कारण ॥ ॥ परार्थ की मना है, यह धारणा ही आन्त है । बन, नीर्थ, शक्ति और परार्थ इन भी नहीं ॥ । जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह निराम ॥ ॥

<sup>१</sup> एवं एवं य १६४-२७२

<sup>२</sup> एवं एवं नरानन्दन विद्यामन्वादा वेचत ।

एवं एवं एवं नरानन्दन विद्यामह ॥

एवं एवं एवं नीर्थ नरानन्दन विद्यामह ।

एवं एवं एवं नरानन्दन विद्यामह ॥



के ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। यद्यच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात्<sup>१</sup> न्यायसूत्रकार के शब्दो में कहे तो यद्यच्छावाद का अर्थ है अनित्य अर्थात् किसी निमित्तविशेष के बिना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान<sup>२</sup> की उत्पत्ति होती है।<sup>३</sup>

यद्यच्छावाद का उल्लेख हमे श्वेताश्वतर-उपनिषद,<sup>४</sup> महाभारतः शान्ति पर्व<sup>५</sup> में तथा न्यायसूत्र<sup>६</sup> आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनमें सिद्ध है कि यह वाद प्राचीन युग में प्रचलित था।

यद्यच्छावाद, अकस्मात्वाद, अनिमित्तवाद, अकारणवाद, अनित्यवाद, आदि वाद एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। इनमें कार्यकारणभाव, गति, हेतुमदभाव का पूर्णरूप में अभाव है। कितने ही व्यनित स्वभाववाद<sup>७</sup> यद्यच्छावाद को एक ही मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता उनितन<sup>८</sup> चूंकि इन दोनों में यह भेद है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारण<sup>९</sup> मानते हैं पर यद्यच्छावादी कारण की सत्ता का ही नियेष करते हैं।<sup>१०</sup>

### भूतवाद

भूतवादियों का मन्तव्य है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु<sup>११</sup> चार भूतों से ही सभी चेतन-अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जड़ रंग चेतन का मूल आधार चार भूत है। भूतों के अतिरिक्त अन्य को<sup>१२</sup> चेतन और अचेतन नामक वस्तु संसार में नहीं है। दूसरे दर्शनकार<sup>१३</sup> आत्मतत्त्व कहते हैं उसे भूतवादी भीतिक कहते हैं। उनका मानना<sup>१४</sup> आत्मतत्त्व उन्हीं चतुर्भूतों की एक परिणति विशेष है, जो परिणाम से उत्पन्न होती है और जब वह परिस्थिति नहीं रहती है तो<sup>१५</sup> नाट हो जाती है। जैसे कि अनेक प्रकार के घोटे-बड़े पुजों गे एवं<sup>१६</sup> नीयार होती है और उन्हीं के परस्पर संयोग से उसमें गति भी आती है। और युद्ध समय के पश्चात् पुजों के धिम जाने पर वह दृष्टान् दिग्गज<sup>१७</sup> है, जो प्रकार यह जीवन-यत्र भी है।

<sup>१</sup> न्यायमाण्य ३।२।३१

<sup>२</sup> न्यायग्रन्थ ८।१।२२

<sup>३</sup> श्रीनारायण उपनिषद् १।२

<sup>४</sup> श्रीनारायण, शान्ति पर्व ३।३।३३

<sup>५</sup> दृष्टान् दिग्गज ८।१।३२

<sup>६</sup> न्यायमाण्य का ४० अणिनपाण का वनुग्रह ८।१।२६



की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से ही प्राणी मन, वचन काय की प्रवृत्तिर्या करता है और उससे पुन लोभ, द्वेष और मोह करता है, इस तरह अनादि काल से यह सप्ताह चक्र चल रहा है।

## जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ सस्कार या वासना भ्य मानते हैं कि जैनदर्शन उसे पीड़गलिक मानता है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विधातक नहीं होता। आनंद का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुख का हेतु नहीं हो सकता। कर्म थात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुखों का कारण है, गुणों का विधातक है, अत वह थात्मा का गुण नहीं हो सकता।

वेदी से मानव वैधता है, मदिरापान से पागल होता है और बोगे कार्म से वेभान। ये सभी पीदगलिक वस्तुएँ हैं। ठीक इमी तरह कर्म सयोग में आत्मा की भी ये दशाएँ होती हैं, अत कर्म भी पीदगलिक है। वेदी आदि का वधन बाहरी है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा साथ चिपके हुए है, अधिक सामर्थ्य वाले मूढ़म स्कन्ध है एतदर्थे तो यादि की अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आदिक प्रभाव पड़ता है।

जो पुद्गल-परमाणु कर्म स्वप्न में परिणत होते हैं उन्हे नोर्म-पर्सन् कहते हैं और जो धरीरस्प में परिणत होते हैं उन्हे नोर्म वर्गणा है। लोक उन दोनों प्रकार के परमाणुओं में पूर्ण है। परंगेर पीड़िता है। उग्रता कारण कर्म है, अतः वह भी पुद्गलिक है। पीड़िता कार्य है, गमवायी कारण पीड़ितिक है। मिट्टी आदि भौतिक है और उसका भौतिक तोने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

गन्धी वादार आदि में मुल की अनुभूति होती है और ग्रामीण प्रदार में इसानभूति होती है। आदार और ग्रामीण प्रदानिक ही मुख्य त्रैया ; प्रदाना कर्म भी प्रदानिक है।

वर की इच्छिये गोव आर पदगल दोनों भिन्न करी हैं।



कर्म पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड़ से चेतन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म ही भावकर्म उसमें जड़ और चेतन नामक दोनों प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड़ और चेतन के मिश्रण हुए बिना कर्म की रचना नहीं हो सकती। इस और भावकर्म में पुद्गल और आत्मा की प्रवानता और अप्रवानता मूल है किन्तु एक-दूसरे के सद्भाव और असद्भाव का कारण मुख्य नहीं है। द्रव्यकर्म में पांडग्लिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व नहीं होता है। भावकर्म में आत्मिक तत्त्व की प्रवानता होती है और पांडग्लिक तत्त्व गीण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्गल परमाणुओं का शुद्ध गिराने तो कर्म और पुद्गल में अन्तर ही क्या रहेगा? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म में भेद नहीं रहेगा?

उत्तर में निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोगतृत्व पर निर्दली करते समय संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण नहीं चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोगतृत्व का सम्बन्ध संसारी आत्मा में भी मुक्त आत्मा से नहीं है। संसारी आत्मा कर्मों से बंधा है, उसमें नैतन्य और जड़त्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है उसमें भी नैतन्य ही होता है। बद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कार्यिता पांडग्ल के कारण जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर परम्पर एक-दूसरे का गिल जाने हैं, तीरथीरवद् एक ही जाते हैं वे कर्म कहलाते हैं। यहाँ कर्म भी जड़ और नैतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि संसारी आत्मा भी जड़ और नैतन का मिश्रण है और कर्म से भी वही बान है? ताकि मैं प्रश्न कर सकूँ? उत्तर है कि संसारी आत्मा का चेतन अण जी॥ ५॥ ही है और जड़ अण कर्म कहलाता है। मैं नैतन और जड़ अण अपना नहीं॥ नितम् गमार-अवस्था में अलग-अलग स्थगें बनावति॥ ६॥ इतरा पृथक्करण मुसलावधा में ही होता है। गमारी आत्मा गमारन ही होता है। यह वह कर्म गमन ही जाता है ताकि मैं कर्म नहीं सकूँ अपने आप्या कहलाना है। कर्म जब आत्मा में पृथक् नहीं रह सकता तो यह पुद्गल कहलाता है। आप्या का गमार॥ ७॥ क्या? तर उन्हें युत आत्मा की प्रवृत्ति आपापें?॥ ८॥ उन्हें कर्म वह प्रस्तुत आत्मा और पुद्गल की नैतन स्थगी?॥ ९॥



दृष्टि से यह पूर्ण सत्य है कि वेंधा हुआ ही वंधता है, अवेंधा हुआ न वंधता है।

**गीतम—भगवन् !** दुखी जीव दुख से स्पृष्ट होता है या बदुखी जीव दुख से स्पृष्ट होता है ?

**भगवान—गीतम !** दुखी जीव दुख से स्पृष्ट होता है बदुखी जीव दुख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उद्दीर्ण वेदना और निर्जरा दुखी जीव करता है, अदुखी जीव नहीं करता।'

गीतम ने पूछा—भगवन् ! कर्म कौन वंधिता है ? सयत, असयत अथवा सयतासयत ?

भगवान ने कहा—गीतम ! असयत, सयतासयत और संयत में मर्म कर्म वंधने हैं। तात्पर्य यह है कि जो सकर्म आत्मा है वे ही कर्म वाँसी उन्हीं पर कर्म का प्रभाव होता है।

### कर्मवंध के कारण

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणों में वंधते हैं, यह एक सहज जिज्ञासा है। गीतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव कर्मवंध कैसे करता है ?

भगवान ने उत्तर दिया—गीतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उत्तर में, दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय में दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उत्तर मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव भाऊँ प्राप्ति कर्मों को वाँचता है।'

‘गानान्,’ समवायान्<sup>१</sup> में तथा उमास्वाति ने कर्मान् ॥<sup>२</sup>॥  
कारण नाये हैं— (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) राग<sup>३</sup>  
(५) और योग।

गदादर्शि में कर्म वंध के दो कारण हैं—कर्याय और योग।

- <sup>१</sup> मगधी १०१७६६
- <sup>२</sup> प्रपाता २-११२८८
- <sup>३</sup> एवं इन्द्र इति
- <sup>४</sup> इति इति प्रमादः
- <sup>५</sup> इति इति योगः



करता है और व्यवहारनय ससारी आत्मा जो कर्म मे युक्त है उन प्रतिपादन करता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारनय मे किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनों की विपर्यवस्तु भिन्न-भिन्न है, उन्हें क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। निश्चयनय रो कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि निष्पत्ति नहीं हो सकता। वह मुक्त आत्मा और पुद्गल आदि युद्ध की का ही प्रतिपादन कर सकता है।

### कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कितने ही चिन्तकों ने निश्चय और व्यवहारनय की मर्यादा विस्मृत करके निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निर्णय किया है जिससे कर्मसिद्धान्त मे अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। उन समस्याओं का कारण है ससारी जीव और मुक्त जीव ने भी का विरपरण और साथ ही कभी-कभी कर्म और पुद्गल का अन्तर भुला दिया जाता है। उन चिन्तकों का मन्तव्य है कि जीव न तो कर्म का कर्ता है और न भोक्ता ही है, चूंकि द्रव्य कर्म पीदगति है, पुरुष के विकार है उसलिए पर है। उनका कर्ता चेतन जीव किम प्राप्ति मनकता है? चेतन का कर्म चेतनस्प होता है और अचेतन का कर्म अोपस्प। यदि चेतन का कर्म भी अचेतन स्प होने लगेगा तो चेतन और अचेतन का भेद नहीं होकर महान् मकर दोष उपस्थित होगा। उमाई प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है पर-भाव का कर्ता नहीं।<sup>१</sup>

प्रस्तुत रूथन मे ममारी जीव को द्रव्य कर्मों का र्ता व भी। उमनिंग नहीं माना गया कि कर्म पीदगतिक है। यह किम प्राप्ति ममारी की भी अचेतन कर्म को उत्पन्न करे? इम हेतु मे जो मगारे राजा आत्मा है उमारो युद्ध चेतन्य मान लिया गया है और कर्म को युद्ध पुरुष किम प्राप्ति तथ्य यह है कि न ममारी जीव युद्ध चेतन्य है बोर न युद्ध पुरुषारी है। ममारी जीव चेतन और अचेतन द्रव्यों का प्रिया।<sup>२</sup> प्रिया तरह कर्म भी पुरुषन का युद्ध स्प नहीं अप्रिया।<sup>३</sup> प्रदर्शन है। ममारी जीव की मानसिक, वातिक और रायिक प्रतिकूली है। अप्रिया और उमारे गवड़ है। जीव और पुरुषन दोनों अप्रिया।<sup>४</sup> किंतु अप्राप्ति न हो तो कम की उत्पत्ति का कोई प्रयत्न नहीं हो।<sup>५</sup>



मुक्त, न राग-द्वेषादि भावो से युक्त सिद्ध होगा और न उनसे रहित है। परन्तु सत्य तथ्य यह नहीं है। जैसे किसी रूपवान् युवक पर युवती मुख होकर उसके पीछे हो जाती है वैसे जड़ पुद्गल चेतन आत्मा के पीछे रह लगते। पुद्गल अपने आप आकर्षित होकर आत्मा को पकड़ने के लिए नहीं दौड़ता। जीव जब सक्रिय होता है तभी पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। अपने को उसमें मिलाकर उसके साथ एकमेक हो जाते हैं, और समय पर फल प्रदान कर उससे पुनः पृथक् हो जाते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया के लिए जीव पूर्णरूप से उत्तरदायी है। जीव की नियन्त्रित ही पुद्गल परमाणु उसकी ओर खिचते हैं, सम्बद्ध होते हैं और उसके फल प्रदान करते हैं। यह कार्य न अकेला जीव ही कर सकता है और न अकेला पुद्गल ही कर सकता है। दोनों के सम्मिलित और पारस्परिक प्रभाव से ही यह सब कुछ होता है। कर्म के कर्तृत्व में जीव की उम्र प्रत्याग्रह की निमित्तता नहीं है कि जीव साल्यपुरुष की भाँति निपिक्षा अवस्था में निलिप्त भाव से विद्यमान रहता हो और पुद्गता अपने आप कर्म से इसमें परिणत हो जाते हो। जीव और पुद्गल के परस्पर मिलने से ही उनकी उत्पत्ति होती है। एकान्त रूप से जीव को चेतन और एक एक नहीं कह सकते। जीव भी कर्म-पुद्गत के सासर्ग के कारण कथनिया है और कर्म भी चेतन्य के सासर्ग के कारण कथचित् चेतन है। जब जीव कर्म एवं दूसरे से पूर्णरूप में पृथक् हो जाते हैं, उनमें किसी परामर्श नहीं रहता है तब वे अपने शुद्ध स्वरूप में आजाते हैं अर्थात् एकान्त रूप से चेतन हो जाता है और कर्म एकान्त रूप से जउ।

गगारी जीव और द्रव्यकर्म स्वप्न पुद्गत के मितने पर उमा एवं  
गंगा नीर में राष्ट्र-देशादि भावकर्म की उत्पत्ति मआ देते। परन्तु  
जहाँ यह अपने युद्ध खेलात का करता है और पुरुषों भी आता हैं  
खेलात का कर्ता हैं, तो राष्ट्र-देश आदि भावों का कर्ता कौन है? यहाँ  
जहाँ नीर से नीर के युद्ध खेलात के अन्तर्गत है और न पृथिवी के  
युद्ध खेलात करन्होंगा, तब उमा कर्ता हिंसा मान।

३४२ - एवं यात्रा आर अंतिम घटनार्थ , विद्युत  
प्रयोग-प्रक्रिया भारा का कर्मियां यससे हो जाएँगी ।  
३४३ - यह बात बहुत समय से चली रही है ।



दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेका, धाव हो गया, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल हेतुक विपाक उदय है ।

किसी ने अपशब्द कहा, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गल का सहेतुक विपाक उदय है ।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—वढ़िया भोजन किए किन्तु न पचने से अजीर्ण हो गया, उससे रोग उत्पन्न हुए यह अमावेदनीय का विपाक उदय है ।

मदिरा आदि नशीली वस्तु का उपयोग किया, उन्माद आगे यह ज्ञानावरण का विपाक उदय हुआ । यह पुद्गल-परिणमन-हेतुक-विपाक उदय है ।

इस तरह विविध हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है ।<sup>१</sup> ये हेतु प्राप्त नहीं होते तो कर्मों का विपाक स्पष्ट में उदय नहीं होता । उस का दूसरा प्रकार है प्रदेशोदय । इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभा नहीं होता है । यह कर्मवेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है । जो कर्म आगे होता है वह अवश्य ही भोगा जाता है ।

गीतम् ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् । किए हुए पाप-कर्म भी विना नहीं छूटते, क्या यह सत्य है ?

भगवान् ने गमाधान करते हुए कहा—हाँ गीतम् । यह सत्य है ।

गीतम् ने पुनः प्रश्न किया—कैमे, भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गीतम् । मैंने दो प्रकार के कर्म की ॥<sup>२</sup> ॥  
१ (१) प्रदेश-कर्म और (२) अनुभाग-कर्म । जो प्रदेश-कर्म है वे भी  
नहीं भोग जाते हैं तथा जो अनुभाग कर्म है, वे अनुभाग (विपाक) ॥<sup>३</sup> ॥  
२१ नीति भावी है, चृच्छ नहीं भोग जाने ।<sup>४</sup>

<sup>१</sup> प्रज्ञान-पुद्गल-

<sup>२</sup> १६८ भगवान् गीत प्रदेशोग्राम त्रय कर्म प्रश्नात् ।

<sup>३</sup> अनुभाग अनुभाग ग्रन्थात् ग्रन्थान् ॥ त्रिपात्र त्रय अनुभाग  
— ग्रन्थात् ॥ १६८ ॥ १६८ ॥



## उदीरणा

गीतम् ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन् ! जीव उदीर्णः पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण पर उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है। भगवान् ने उत्तर दिया—गीतम् ! जीव उदीर्ण की उदीरणा करता है।

जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता है।

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य की उदीरणा करता है।

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता है।

(१) उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की पून उदीरणा की जाय तो उदीरणा की कही पर भी परि-समाप्ति नहीं हो सकती। अत उदीर्ण उदीरणा नहीं हो सकती।

(२) जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा वर्तमान में नहीं प्रभविष्य में होने वाली है या जिसकी उदीरणा नहीं होने वाली है अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती।

(३) जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर परन्तर वे शक्तिहीन हो गये, अत उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

(४) जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण उदीरणा-योग्य) है, उन्होंकी उदीरणा होती है।

## उदीरणा का कारण

र्म जब स्वाभाविक रूप में उदय में आने है तब नवीन पूर्ण आवश्यकता नहीं होती। वन्धु विश्विति पूर्ण होने ही कर्म-पुद्गल रा-पा जाते हैं। विश्विति-दाय ने पूर्व उदीरणा द्वारा उदय में नापा-पादर्दर इम विश्व व्रयन्त या पूर्णार्थ की आवश्यकता होती है।

र्म ने विजामा प्रस्तुत की—भगवन् ! अनुदीर्ण, एवं उपर्युक्त उदीरणा की जो उदीरणा होती है उसमें उपर्युक्त र्म एवं पुद्गलों की जो उदीरणा होती है उसमें उपर्युक्त



वाले पुद्गलों की वेदना नहीं होती और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्गलों की वेदना होती है।

### निर्जरा

आत्मा और परमाणु ये दोनों पृथक् हैं। जब तक पृथक् रहते हैं तब तक आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु है। जब दोनों का संयोग होता है तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य-परमाणु जब आत्मा से चिपकते हैं तब वे कर्म रहते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के पश्चात् वे अकर्म हो जाते हैं। वास्तव में होते ही वे आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस अलगाव का नाम निर्जरा है।

अधिकारिक इष्ट से हम कहते हैं कि कर्मों की निर्जरा होती है। सत्य तथ्य यह है कि कर्मों के दलिक फल देने के साथ ही आर्म दृष्टि होते हैं जड़ जाते हैं, यही निर्जरा है।

कितने ही फल टहनी पर पक कर टूटते हैं तो कितने ही फल प्राप्ति से पकाये जाते हैं। दोनों ही फल पकते हैं किन्तु दोनों के पहने तो प्रतिरोध पृथक्-पृथक् हैं। जो सहज रूप में पकता है उसके पहने का समय तभी होता है और जो प्रयत्न से पकाया जाता है उसके पहने तो समय तभी होता है। कर्म का परिपाक ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काता-मर्यादा जो कर्म-परिपाक होता है, वह निर्जरा विषाणी-निर्जरा कहलाती है। इस निर्जरा की भी प्राप्ति का नवीन प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उमणि एवं निर्जरा न धर्म है और न अधर्म है।

निश्चित काता-मर्यादा से पूर्व शुभ-योग के द्वारा कर्म का परिपाक होता है, वह अविषाणी निर्जरा कहलाती है। यह गिरिंग महाराज २। उमणा हेतु शुभ-प्रयास है। अत धर्म है।

आत्मा पहने या कर्म ?

आत्मा पहने हैं या कर्म पहने हैं ? दोनों में पहने कौन है और कौन नहीं ? यह एक प्रश्न है।

“नहीं” आत्मा और “मैं दोनों अनादिहैं। कर्ममाति ॥ १ ॥”  
“नहीं” आदि आत्मा ने गम्भीर है। प्रतिपत्ति प्रतिक्षण भी ॥ २ ॥”  
“नहीं” आदि ॥ ३ ॥ यमा दोई भी दाण नहीं, बिग मम ॥ ४ ॥”  
“नहीं” आदि ॥ ५ ॥ यह इति मात्रामाते याम एमें का महाराज ॥ ६ ॥”



न कि व्यक्तिशः । अत अनादिकालीन कर्मों का अन्त होता है, तप और सयम के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुकता है, सचित कर्म नष्ट होते हैं और आत्मा मुक्त बन जाता है ।<sup>१</sup>

### आत्मा वलवान् या कर्म

आत्मा और कर्म इन दोनों में अधिक शक्तिसम्पन्न कौन है ? यह आत्मा वलवान् है या कर्म वलवान है ।

समाधान है—आत्मा भी वलवान् है और कर्म भी वलवान है। आत्मा में भी अनन्त शक्ति है और कर्म में भी अनन्त शक्ति है। उभी जीव काल आदि लिंगयों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है और कभी कर्मों की वहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है ।<sup>२</sup>

वहिर्विष्ट से कर्म वलवान् प्रतीत होते हैं, पर अन्तर्विष्ट से आत्मा ही वलवान् है, क्योंकि कर्म का कर्ता आत्मा है, वह मकड़ी की तरह कर्ता का जाल विछाकर उसमें उलझता है। यदि वह चाहे तो कर्मों को कर्ता भी सकता है। कर्म चाहे कितने भी अधिक शक्तिशाली हों, पर आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है ।

लौकिकदृष्टि से पथर कठोर है और पानी मुलायम है, फिर मुनायम पानी पथर के भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। कठोर चट्ठानों में भी ध्रेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अभिन्न है। वीर हनुमान को जन तक स्व-स्वरूप का परिज्ञान नहीं हुआ तब तक वह नाग-पाश गंभा रहा, रावण की ठोकरे खाता रहा, अपमान के जहरीं पर पोरा रहा, फिर उसे ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, त्यो ही नाग-पाश को तोड़ा पाया हो गया। आत्मा को भी जब तक अगनी विराट चेतनागति ॥ १ ॥ ज्ञान नहीं हाना तब तक वह भी कर्मों को अपने गे अनित जीवाणु समशस्त्र उनमें दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनमें मुक्त हो जाता ॥ २ ॥

<sup>१</sup> “ “ पूर्वमात्, मत्तमेण तरेण य ।

“ “ पारापात्रा, पारामात् मत्तिणो ॥ — उत्तरगण्यात् ॥

“ “ एव विश्वा जीवा रम्या रम्याऽदृन्ति विनिगाऽ ।

“ “ एव रम्य य, एव रम्याऽवराऽ ।



वेदपथी कवि सिहलन मिथ्र भी यही कहते हैं कि कही भी चै  
जाओ, परन्तु जन्मान्तर में जो शुभागुभ कर्म किये हैं, उनके फल तो धारा  
के समान साथ ही साथ रहेगे । वे तम्हे कटापि नहीं छोड़े गे ।<sup>१</sup>

आचार्य अमितगति का कथन है—“अपने पूर्वकृत कर्मों का ही शुभ शुभ फल हम भोगते हैं, यदि अन्य द्वारा दिया फल भोगे तो हमारे स्वयं कर्म निरर्थक हो जायेगे।”<sup>१</sup>

अध्यात्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य कुन्दकुन्द का भी यह स्वर है—“जीव और कर्मपुद्गल परस्पर गाढ़ स्तर में मिल जाते हैं, मम पर वे पृथक्-पृथक् भी हो जाते हैं। जब तक जीव और कर्म-पुद्गल परस्पर मिले रहते हैं तब तक कर्म सुख-दुःख देता है और जीव को वह भोगता पड़ता है।<sup>3</sup>

महात्मा बुद्ध ने एक बार पैर में काँटा विध जाने पर अपने शिर से कहा—“भिथुओ ! इस जन्म से एकानवें जन्म पूर्वं मेरी शति (मन विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी। उसी कर्म के कारण मैंग पैर में विध गया है।”<sup>४</sup>

भगवान् महावीर के जीवन प्रसगो से भी यह बात स्पष्ट है कि उन्‌माधवाकाल में जो रोमाचकारी कठ सहने पड़े थे, उनका मूल कारण पूर्ण कृत कर्म ही थे।<sup>१</sup>

? आराममुपततु गच्छतु वा दिग्नत—

मामोनिरि विगतु तिष्ठतु वा येष्टम् ।

गमाराजिगमागमहरणा,

—गान्धीजी

१८५ एवं अन्यजनि कम फानुवन्धि ॥

१०५ तत्त्वम् यदान्मापुरा, कन्तकीय तमने शुभाशुभम् ।  
प्रति दृष्टि प्रति विषये ॥

—affiti.

२ असा व्यापकाया अपरोक्षात्मकताप्रिवदा ।

४८५ अस्ति विद्युता विद्युता ।

- 9 -

६ राजकीय विद्यालय, गोपनीय मुख्यमंत्री

॥ ४५ ॥ ३१ : विभव विभव ॥

—TENANT 93—

କାନ୍ତିର ମହାଦେଵ ପାତାରୀ



मन के द्वारा होने वाले सामान्य वीध को आवृत करता है। अवधिदर्शन वरण कर्म—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी दर्शन का जो सामान्य वीध होता है उसे आच्छादित करता है। केवलदर्शनावरण कर्म सर्व द्रव्य और पर्यायों के युगपत् होने वाले सामान्य अववीध को आवृत करता है। निद्रा कर्म वह है, जिससे मुष्टि प्राणी सुख से जाग सके, ऐसे हल्की निद्रा उत्पन्न हो। निद्रानिद्रा कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न होती है जिसमुष्टि प्राणी कठिनाई से जाग सके। प्रचला—जिस कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न हो कि खड़े-खड़े और बैठे-बैठे भी नीद आये। प्रचला-प्रचला कर्म—जिसने चलते-फिरते भी नीद आये। स्त्यानधि—जिस कर्म से दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्य विशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करे, वैसी प्रगाढ़तम नीद।

दर्शनावरण कर्म भी देशधाती और सर्वधाती रूप में दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण देशधाती है और शेष छह प्रकृतियाँ भी धाती हैं।<sup>१</sup> सर्वधाती प्रकृतियों में केवलदर्शनावरण प्रमुख है। जाताग्नि की तरह उसे भी समझ लेना चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन गर्भ प्रकट होती है, वह केवलदर्शन का धारक बनता है। जब उसका धारणा होना है तब चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन प्रकट होता है।

प्रस्तुत कर्म की न्यूनतम मिथ्यनि अन्तमुहूर्त की ओर उत्तेजित मिथ्या तीम कोटाओटि सागरोपम की है।<sup>२</sup> ये इनीय कर्म

आत्मा ने अव्यावाध गुण को आवृत करने वाला कर्म ये इनीय।<sup>३</sup>  
ये इनीय कर्म में आत्मा को मुरा-दृश्य का अनुभव होता है। उसके दो गोरे।

<sup>१</sup> दर्शनावरणीय तम्भे धृत नेता।

<sup>२</sup> दर्शनावरणीय चक्षुराचक्षुरविदर्शनापरमीय, मर्दिगंगाराम।  
दर्शनावरणीय चक्षुराचक्षुरविदर्शनापरमीय नेत्यन गाइना त्रु पुरांगिनि।

—ठाणा ५ १४७।

<sup>३</sup> दर्शनावरणीय तम्भे धृत नेता।

? दर्शनावरणीय तम्भे धृत नेता।

प्राप्ति दर्शनावरणीय तम्भे धृत नेता।



वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन<sup>२</sup> और प्रजापति<sup>३</sup> अन्तमुहूर्त की वताई है। भगवती<sup>४</sup> मे दो समय की कही गई है। दोनों कथनों मे कोई विरोध नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मुहूर्त के अन्दर का समय अन्तमुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तमुहूर्त कहने मे विसंगति नहीं है। वह जघन्य अन्तमुहूर्त है। किन्तु तत्त्वार्थमा<sup>५</sup> कर्मग्रन्थों मे वारह मुहूर्त की प्रतिपादित की गई है, जो साम्पर्क आत्मव की अपेक्षा से है और भगवती मे जो दो समय कही गई है वह इस पथ आत्मव की अपेक्षा मे है। उत्कृष्ट रिथति सर्वत्र तीस कोटिकोटि साल की है।

### मोहनीय कर्म

जो कर्म आत्मा मे मूढ़ता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ<sup>६</sup> कर्म मे यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। अन्य सात कर्म प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है।<sup>७</sup> वह आत्मा के वीतराग भाव—युद्ध-स्वरूप—को प्रभावित करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होता है।<sup>८</sup> कर्म स्व-पर-विवेक मे तथा स्वस्थपरमण मे वाया ममुपरिण करता है।

उस कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरापान<sup>९</sup> मानव परवण हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भाव करता है, वह हिताहित के विवेक मे विहीन हो जाता है। वैसे ही मोहनीय<sup>१०</sup>

२ उपरी मरिगनामाण लीसई कोउिकोटीओ ।

उत्तोगिया छिई होइ, अन्नामुद्रुत जहनिया ॥

गावरणिज्ञाण दुष्ट यि भेषणिज्ञ नदेष्य ।

३ याग ग त्यमिष, छिई एगा तियालिया ॥

-उत्तरा २०७

प्रथा ॥ २ । १२२१-२१

-भाग ।

४ इयिरन गह दो गमया ।

-उत्तरा १

(१) यपर ग्रादगमुर्ति येस्तीगमा ।

-उत्तरा १

(२) रुग्नियप्रत्ययग द्वायगमुर्ति विवितिति ।

-उत्तरा १

(३) अन्तर छिई राष्ट्रीयग वायग मुर्ता ।

-उत्तरा १ मात्तिय यपर - उत्तरा १ मात्तिय १११-११२

(४) द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि ॥

-उत्तरा १

(५) द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि द्वृष्टि ॥

-उत्तरा १



है।<sup>१</sup> इनमें मिथ्यात्वमोहनीय सर्वधाती है, सम्यक्‌मोहनीय देशधाती है और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वधाती है।

मोहनीय कर्म का द्वितीय भेद चारित्रमोह है। यह कर्म लात्मा चारित्र गुण को उत्पन्न नहीं होने देता।<sup>२</sup>

चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं—(१) कपाय मोहनीय<sup>३</sup> नोकपाय मोहनीय।<sup>४</sup> कपाय मोहनीय के मोलह भेद है और नोकपाय मोहनीय के सात अथवा नौ भेद हैं।<sup>५</sup>

कपाय मोहनीय—कपाय शब्द कप और आय से बना है। कप समार और आय—लाभ, जिससे ससार अर्थात् भवभ्रमण की अभिवृद्धि है वह कपाय है।<sup>६</sup> क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में वह चार प्रकार का है। ये चार भी अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानारा-

<sup>१</sup> प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० १४-१६

<sup>२</sup> (क) केवलणाणावरण, दसणद्वारा कपायवारसय।

मच्छ च मवधादी, ममामिच्छ अववधि॥

—गोमटसार (कर्मग्रन्थ) ।

(ग) रोवनणाणावरण दसणद्वारा न मोहवारसय।

ता सद्यधाइमना मवनि मिच्छतवीसाइम॥

—ठाणाज्ञ २१६१०७ टीका मे ३१

<sup>३</sup> ए जीवम्य नारिण गुणोऽस्त्येक प्रमाणसात्।

अमोहयति परकर्म, तत्स्याज्जनारिणमोहनम्॥

—पाण्डिती ।

<sup>४</sup> (क) चरित्तमोहण कर्म, दक्षिण त वियाहिय।

रमायमीरणिज्ज तु नोकमाय तदेव य॥

—उत्तरपाणी २१०

(ग) प्रजापाता २३१२

<sup>५</sup> (क) गोत्तमगिरिमेषण, कर्म तु कगायज्ज।

गनादित नरविद वा, कर्म न नोरामायज॥

—उत्तरपाणी ३११

(श) प्रजापाता २३१२

(ग) श्यामाज्ञ २१२१०,

(र) सामायण -२०

<sup>६</sup> एम त्या भरा वा, रगमानो मि रमाया न।

रम रम्म र रम्म गमर्मी रग रमायनि॥

—आवश्यक मालिनी । १११

—तितारिष्ठर भ०१११



(१५) आतपनाम—इस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में से ए प्रकाश निकलता है।<sup>१</sup>

(१६) उद्योतनाम—इसके उदय से शरीर शीतप्रकाशमय है।<sup>२</sup>

(२०) विहायोगतिनाम—इसके उदय से जीव की अच्छी व दुः गति (चाल) होती है। इसके भी दो भेद हैं—(क) प्रशस्त-विहायोगति तथा (ख) अप्रशस्त-विहायोगति नाम। यहाँ गति का अर्थ चलना है।

(२१) व्रसनाम—जिस कर्म के उदय से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो।

(२२) स्थावरनाम—जिस कर्म के उदय से इच्छापूर्वक गति होकर स्थिरता प्राप्त होती है।

(२३) सूधमनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को अप्रतिरोधी सूधम शरीर प्राप्त हो।

(२४) वादरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को प्रतिरोधी स्वूल शरीर की उपलब्धि हो।

(२५) पर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे।

(२६) अपर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्ति पूर्ण न कर सके।

(२७) साधारण शरीरनाम—जिस कर्म के उदय से अनन्त जी॥ तो एक ही साधारण शरीर प्राप्त हो।

(२८) प्रत्येक शरीरनाम—जिस कर्म के उदय से जीवों को विभिन्न शरीर की प्राप्ति हो।

(२९) ग्रिवर नाम—जिस कर्म के उदय से हृड़ी, दात, मांग प्राप्ति विवर प्रथार्थान रहे।

(३०) अग्निवर नाम—जिस कर्म के उदय से हृड़ी, मांग प्राप्ति व अहोगात् आदि अग्निवर रहे।

<sup>१</sup> अद्युति रूप तथा उपर्युक्त योग्य के लोकनिष्ठा जीवों में होता है। ३२ ११

<sup>२</sup> अद्युति रूप तथा उपर्युक्त योग्य के लोकनिष्ठा जीवों में होता है।

<sup>३</sup> अद्युति रूप तथा उपर्युक्त योग्य के लोकनिष्ठा जीवों में होता है।



## □ विश्वदर्शन : एक अनुचिन्तन

- भारतीयदर्शन
- यैशिकदर्शन
- चार्वाकदर्शन
- मैत्रिदर्शन
- योगदर्शन
- गान्धी और योगदर्शन
- श्याय और यशोधितादर्शन
- सीमाया और येवान्त दर्शन
- गृनानीदर्शन
- अस्त्रीदर्शन
- मूर्खोप्यप्रवाप
- युग्मार्थदर्शन
- लालंकार्यदर्शन म नया गुण



(२) वेदना, (३) सज्जा, (४) संस्कार और (५) रूप।<sup>१</sup> जब ये पाँचों स्कन्ध समाप्त हो जाते हैं, तब दुःख स्वतः समाप्त हो जाता है। दूसरा आर्यसत्य समुदय है। इसका तात्पर्य है, आत्मा में राग-द्वेष की भावना का उत्पन्न होना। इस विराट् विश्व में 'यह मेरा है, यह तेरा है।' यह जो राग-द्वेषमय भावों की अभिव्यजना है, वही समुदय है।<sup>२</sup> तृतीय आर्यसत्य है—मार्ग। मार्ग का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि ससार में जितने भी घट, पट आदि पदार्थ हैं, वे सभी क्षणिक हैं। जो प्रथम क्षण में थे, वे द्वितीय क्षण में नहीं हैं। किन्तु मिथ्या वासना के कारण यह वही है ऐसा आभास होने लगता है। इसके विपरीत जितने भी पदार्थ हैं, वे क्षणिक हैं। ऐसा संस्कार उत्पन्न हो जाना मार्ग है। चतुर्थ आर्यसत्य निरोध है। सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्ति मिलने का नाम निरोध है।<sup>३</sup>

इस प्रकार बीद्धदर्शन का मूलाधार दुःख ही है। ससारी जीव से स्कन्ध रूप दुःख से पृथक् करना, बीद्ध दर्शन के आविर्भाव का समुद्देश्य है।

### साख्य और योगदर्शन

भारतीयदर्शनों में साख्य और योग ये दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं। साख्यदर्शन में कपिल के पच्चीस तत्त्वों पर अत्यन्त मुनर विश्लेषण किया गया है। साख्यदर्शन का सूष्टि-विज्ञान भी बहुत ही प्रसिद्ध है। गीता में जो सूष्टि का विश्लेषण है, उसका मूल आधार भी साख्यदर्शन ही है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण तो प्रमाण मानता है, किन्तु प्रमाण-मीमांसा में विशेष महत्वपूर्ण कोई वात नहीं कहता। परन्तु उसमें कार्य-कारणवाद का विश्लेषण बड़े विस्तार के मार्ग पर गया है। मूल में साख्यदर्शन परिणामवादी है। परिणामात् अनुमान कारण स्वयं ही कार्य रूप में परिणत हो जाता है। योगदर्शन मनोरंजनिक पद्धति में चित्त की वृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण प्राप्त।

<sup>१</sup> य गगारिण राम्याम्ने न पन प्रकीर्तिता ।

प्रकार, वेदना, सज्जा, गम्भारो, स्पर्शमन ॥

<sup>२</sup> मदुर्भव यता लात, गगारीना पणाऽप्तित ।

मा द्विग नामाय गम्भय म रथात ॥

—परदर्शन गम्भय, ३१८

<sup>३</sup> एवं रोमदात, उपर नामा पात ।

प्रदुर्भव नियमा पात, र-प्रा ॥



दार्थनिक भी। उतका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त था कि सत्य के दो भेद हैं—  
न्विं और वास्तविक। “न्विसत्य की अपेक्षा वास्तविकसत्य श्रेष्ठ है। उस प्राप्त करना ही एक मात्र मानव-जीवन का लक्ष्य है।” भारतवर्ष में वेदान्त ने मत्ता के व्यावहारिकसत्ता और पारमार्थिकसत्ता, ये दो भेद निर्दिष्ट हैं। बुद्ध ने सत्य के सबृतिसत्य और परमार्थसत्य, ये दो भेद निर्दिष्ट हैं। जैनदर्जन ने व्यवहारनय और निष्वयनय ये दो भेद किये हैं। मौती सन्त के विचारों में भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध के विचारों में अत्यधिक समानता है।

यूनानीदर्जन में सौफी मन्त्रों के पश्चात् एक नवीन परिवर्तन हुआ। उस परिवर्तन के करने वाले तीन महान् व्यक्ति थे—यथार्थवादी मुकुरान बुद्धिवादी अफलानून (प्लेटो) और वस्तुवादी अरम्नु। सुकुरान ने यूनान में मर्वप्रथम यह उद्घोषणा की कि विज्ञान ही धर्म है अर्थात् जो कुछ भी विचार है वही आचार है। भगवान् महावीर ने पाँच आचारों का वर्णन किया है उसमें एक ज्ञानाचार भी है। भगवान् महावीर ने पञ्चामी वां पूर्व भाग्न में जो वात कही वही वात र्सा में तीन शानाद्वी पूर्व मुकुरान यूनान में कही। स्वयं मुकुरान ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उसके ऊपरों को उसके शिष्य प्लेटो ने वाद में लिपिबद्ध किया था। यह परम्परा भाग में बहुत ही प्राचीन काल से रही है। भगवान् महावीर ने जो उपरोक्त शिया, उसे गणधरों ने मूल स्तर से रखना की। बुद्ध ने जो बुद्ध कहने वाले आनन्द ने विविटक का स्तर प्रदान किया। सुकुरान तो शिया का मूर्चगा से मिलने के पूर्व ही माहित्य, ममीत और निवारण में निर्माण हो गया। गुरुरान के गम्भीर में आने के पश्चात् उसका ध्यान दर्शन की ओर गया। उसका यह अभिमन था कि जब तक राज्य के शामनमूर्ख दर्शी हों तो वाया में नहीं आयग तब तक गमाज और राट्र में अन्याय और अस्तीति दर्शी हो गयी। उसी विचार के आधार पर प्लेटो ने युद्धीश्वर का राज्य दर्शन की। जिसका तात्पर्य था, दार्थनिकों का राज्य। यही उपरोक्त शिया। प्लेटो तो शिया अस्तन ना। वह मूर्चगा की वर्तमान वाली नहीं या और न प्लेटो के गमान बुद्धिवादी ही, लिल्यु वह नहीं। इसका नाम का शिया या और विश्व-किंतु नामितरा नहीं। वह दर्शन की नहीं। इसकी विवरणीय विवाद या। वह महान् विद्वान् नहीं या। वह दर्शन की नहीं। इसकी विवरणीय विवाद या। वह महान् विद्वान् नहीं या। वह दर्शन की नहीं। इसकी विवरणीय विवाद या। वह महान् विद्वान् नहीं या।



**अध्रुववन्ध**—जिग वन्ध की आगामी काल में कमी व्युच्छिति होगी, ऐसे जीवों के कर्मवश को को अध्रुववन्ध कहते हैं।

**अध्रुववन्धनी**—वन्ध कारणों का सद्भाव होने पर भी जिन प्रकृतियाँ कदाचित् वन्ध होता है, कदाचित् नहीं भी होता है, उन्हें अध्रुववन्धनी कहते हैं।

**अध्रुवोदय**—उदय-व्युच्छिति हो जाने पर भी द्रव्यादि मासमी के निमित्त जिनका उदय पुनः सभव है, गोमी माता वेदनीयादि प्रकृतियों को अध्रुवोदय कहते हैं।

**अनन्त**—आय-रहित और निरन्तर व्यय-गहित होने पर भी जो गणि की समाप्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं। अथवा जो राणि एवं मारा वेवलगान तो विषय हो वह अनन्त है।

**अनन्तवीर्य**—बीर्यन्तिराय कर्म का मर्वया धय होने पर जो अप्रतिहत मासमान उत्पन्न होती है, उसे अनन्तवीर्य कहते हैं।

**अनन्तानुवन्धी**—जिसका उदय होने पर भग्नादर्शन उत्पन्न नहीं होता है यदि वह उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है, उमाला नाम अनन्तानुवन्धी है।

अनन्त गवों की परम्परा को नालू गरने वाली कपायों को अनन्तानुवन्धी कपाय रहा जाता है।

**अनपवर्तनीय**—आयु कर्म की जिनकी स्थिति वांची गई है उनकी ही विरासत वेदन करना व आपने गाल की अवधि के पूर्व उमका विधात नहीं होना, उमा की उमकी अनपवर्तनीयता है। अभिप्राय यह है, अनपवर्तनीय आयु वर की जारी। जिसका विधात पूर्व जन्म में वांची गई स्थिति के पुर्व तिरी भी प्राप्त न हो तो गर्भ।

**अनभिगृहीत मिथ्यात्म**—परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्म कर्म के उत्तरात्मकों का अथवान उत्पन्न होता है, उसे अनभिगृहीत मिथ्यात्म कहते हैं।

**अनाकारोपयोग**—दर्शनोपयोग।

**अनाभिप्रहित मिथ्यात्म**—सभी मन-मनान्तर अन्तर्दृष्टि, इस प्राप्त गर्भों गमान गानने को अनाभिप्रहित मिथ्यात्म कहते हैं।

**अनिरुचित**—निरानित गे विषयीत अनर्ति जिग तर्म प्रश्नाया ॥ ३३३ ॥  
प्राप्तयण, सद्रामण या उदीरणा भी जा गए, उन्हें अनिरुचित कहा है।

**जनेहान्त**—एवं वर्तु मे पूर्यता वीर गोणता नी वादा विरासती वर्ती वर्ती वर्ती वर्ती वर्ती वर्ती वर्ती वर्ती वर्ती ।

**अनरायाम**—जा तर्म दाना वीर इय विर्ति विर्ति विर्ति विर्ति ।

सम्युक्त वर्तायाम विर्ति विर्ति विर्ति विर्ति ।

सम्युक्त विर्ति विर्ति विर्ति विर्ति विर्ति ।



**अवाय-अपाय**—भाषादि-विशेष के ज्ञान से यथार्थ स्पष्ट में जानना, अवाय है। कहीं-कहीं पर उसका उल्लेख अपाय शब्द से भी हुआ है।

**अविग्रहगति**—विग्रह का अर्थ रूकावट या कुटिलता होता है तदनुमार जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से रहित होनी है उसे अविग्रहगति कहते हैं। एक समय वाली वृजुगति या उपुगति का नाम अविग्रहगति है।

**अविपाक निर्जरा**—जिस कर्म का उदयकाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, तपश्चरणादिस्प औपक्रमिक क्रियाविशेष के मामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में कराके आम्रादि फलों के पाक के समान वेदन करने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

**असातावेदनीय**—जिस कर्म का वेदन-अनुभवन परिनाप के माथ किया जाना उसे असातावेदनीय कहते हैं।

**अस्तिकाय**—जिनसा गुणों और अनेक प्रकार की परियों के साथ अन्त स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है—वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

**आकाश**—जो सब जीवों को तथा शेष—धर्म, अधर्म और काल एवं पुरुषों को भी स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं।

**आगम**—पूर्वापरविरोनादि दोपों से रहित शुद्ध आप के वचन को अन्त कहते हैं।

**आवाधाकाल**—कर्म स्पष्ट से वन्धु को प्राप्त हुआ द्रव्य जितने ममय तर उत्ता या उदीरणा को प्राप्त नहीं होता उन्नने काल का नाम आवाधा या आवादा कहते हैं।

**आभिग्रहिक**—यही दर्शन (सम्प्रदाय) ठीक है अन्य कोई भी दर्शन ठीक नहीं है, उम प्रकार के छादाग्रह से निर्मित मिथ्यात्व का नाम आभिग्रहिक है।

**आभिनिर्विधिक**—अभिगुण और नियमित पदार्थ के इन्द्रिय और मन के गत जानने को आभिनिर्विधिक जान कहते हैं। यह मनिज्ञान का नामान्तर है।

**इन्द्रिय**—परम एश्वर्य को प्राप्त करने वाले जात्मा को इन्द्र और इन्द्रिय या इन्द्रा इन्द्रिय बताते हैं। अथवा जो जीव को अन्त की उपाधि में इन्द्रीयों के उग्र इन्द्रिय रखते हैं।

**ईर्यापत्रकिया**—ईर्या जा अव योग है। एक मात्र उम योग के द्वारा गता है नर गति रम्य है। उग ईर्यापत्रम् की कारणभूत क्रिया जो ईर्यापत्रा है।

**ईर्या जिमन रात्र्य दोहरा ईर्यायु युग व कारणा** ॥३॥  
—ईर्यापत्रा प्राप्त र जिमा ॥ उग परमान्मा रो ईर्या रहा ॥

**ईर्या**—रात्र्य व जान मण पश्यते ईर्यात जानने की उम रात्रि ॥  
“रात्रि, मायणा, गणणा और मीमांसा य ईर्या न नापत्ति है।

**उन्नमा**—जिमा रात्रि गति रात्रि रात्रि रात्रि रात्रि ॥  
—उम रात्रि उन्नम नामा, रात्रि रात्रि रात्रि ॥



उदार का अर्थ मथुल द्रव्य होता है, उस मथुल द्रव्य में जो धरीर निर्मित होता है उसे औदारिक धरीर कहते हैं।

**कर्म—**अजनचूर्ण में परिपूर्ण उद्वेष के समान सूक्ष्म व मथुल आदि उसने पुद्गलों में परिपूर्ण लोक में जो कर्मस्पष्ट परिणाम होने योग्य नियत पुद्गल जीवपरिणाम के अनुसार वन्धु को प्राप्त होकर ज्ञान-दर्शन के धातक (ज्ञानावशण-दर्शनावशण) नव मुग्ध-दृश्य, शूभ-प्रणाम आयु, नाम, उच्च व नीच गोत्र और अन्तर्गत स्पष्ट पुद्गलों से कर्म कहा जाता है।

**कथाय—**कर्म अवश्य समार की कप कहा जाता है। उस प्रकार के कप में अपार्वत कर्म या समार की जो प्राप्त कराया करते हैं उनका नाम कथाय है।

**कार्मण धरीर—**जो सब धरीरों की उत्पन्नि का वीजभूत धरीर है—उनका कारण है—उसे कार्मण धरीर कहते हैं। अवश्य कर्म के विकारभूत या समस्पृशी धरीर का नाम कार्मण है।

**काल—**जो पाच वर्ण, पाच रस, दो गत्य, एव आठ म्यार्डों में रहित और छह प्रशार की हानि-वृद्धि स्वरूप अगुमनघु गुण में सयुक्त होकर बनता—स्वयं परिणामों द्वारा द्रव्या के परिणाम सहस्रांगिना—उक्तण बाला है उसे काल कहते हैं।

**केवलज्ञान—**जो ज्ञान केवल—मनिज्ञानादि से रहित, परिपूर्ण, अमारागण, अन्तर्भी अपदा से रहित, विशुद्ध, समस्त पदार्थों का प्रकाशक और अलोक के माय समस्त ताता रा जाना है, उसे केवलज्ञान कहा जाता है।

**केवलदर्शन—**भावरण का पूणनया क्षय हो जाने पर जो विना फिरी भी री मतापना के समस्त मूर्ति-असूरों द्वारा को मामान्य में जानता है वह केवलदर्शन है।

**धाय—**तर्ही ती आत्मनिक निवृत्ति का—गवंथा अमार तो—क्षण करा ॥

**धर्षण—**ज्ञानावशण और दर्शनावशण कर्म का नाम यह है। इस द्वारा उत्तरार्थ उत्तरार्थ करना ॥

**जिर—**जित्तान गग-डेप रा जीत निया है, वे जिन ॥

**मण—**वा नाय प्रशार के समस्पृशी गाठ को गत्ता करना ॥ उस तर्ह ॥ ११ ॥

**नजम धरीर—**मामा प्राणिया । भावर का भावर जा उणा ॥ १२ ॥  
॥ १३ ॥ नेत्रा धरीर उत्तर ॥

**प्रस्ताम—**वा उत्तर उत्तर ग झीटिगादि जीवा म जन्म रात ॥ १४ ॥

१५ ॥ १६ ॥ भागम भी प्राणाम वा रसि दाति ॥ उत्तर ॥ १५ ॥

१७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥, समाप्त ॥

२१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥, प्रस्ताम भी लगाति ॥ २५ ॥



**निकाचित**—कर्म के जिम प्रदेश पिण्ड का न अपकर्पण हो सकता है, त ग्रन्थ प्रगति इस सक्षमण हो सकता है और त उदय हो सकता है उसे निरुत्तिव जाता है।

निष्ठेप—नवण और विद्यान (भेद) पूर्वक विम्नार में जीवादि तत्त्वों के उपर  
के लिए जो न्याय-नाम स्वापनादि के भेद में विश्वना या निष्ठेप किया जाता है—  
निष्ठेप रहने है। वर्यन् इव्याधिक व पथ्याधिक उन दोनों तयों का ग्रन्थनुसार  
नन्दाये के जान का हेतु है वह निष्ठेप है। उमका प्रयोजन प्रमुख तीनों तथा उभय  
मशय रों द्वारा करना है।

निगोद — जीवों के आश्रय विशेषों का नाम निगोद है।

निद्रा—मद, मेद व प्रकाशट को दूर करने के लिए जो यथा त्रिया की उसे निद्रा कहते हैं।

**निधत्त—** जो कर्म का प्रदेश विष्ट न हो उदय में दिया जा सके और न हो प्रहृतियों में मकान भी किया जा सके उसे निधत्त या निधनि रहा जाता है। अपवर्तना और अपवर्तना करणों को छोटकर योग रूपों के अयोग्य रूप में गार्हणा और अवधारण दिया जाता है उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

नियतिवाद—जो जिस समय में, जिसमें जैसे और जिसके नियम में गोपा-  
वट उस समय, उसी के द्वारा, उसी प्रकार से और उसके होगा ही, उस प्रकार तर-  
का नियतिवाद बहने हैं ।

विजय—बैंधे हम रसी के प्रेता पिण्ड के गतने वा नाम निङग ?

निराण—परमलाला की निरूपि अवस्था युद्ध आत्मनन्दनी गाहाँक  
प्रियंग रहा ।

विद्ययात्रा—गद्ध द्रव्य के निष्पाण हरने वाले नय का विद्ययात्रा

નોંધ ગાત્ર—શિગ રામ કે ઉદગ એ જારનિન્દિત કુલો મ જરૂમ હે તુંબી

ताप्तय-या अपि विष्व विद्युता है—विष्व में जलता ही हो ?

तात्पर्य—जो ब्रह्म कुपतं नेता है—मात्र विषय न है।

तार्किव प्रथम तीर्थ । तिमि=दक्षिण गांव दिग्गंगामा ॥ ११७ ॥

१०८ वर्ष की उम्र में जन्मा हुआ। इसके बाद वह अपनी प्रियतानि के साथ विवाह कर लिया।

—  
—  
—

५८४ विद्युत विकास एवं उपयोग का विवरण

ରେଖାଗୁଡ଼ କିମ୍ବା ପ୍ରକାରରେ କାହାର ନାହିଁ

2. *Constitutive heterochromatin* (CH)

the following year, he was appointed to the faculty of the University of Michigan.



**सूक्ष्म-**—जो स्वयं किसी द्वारा वाधित न हो और न दूसरे को कोई गति पहुँचायें वे पदार्थ या जीव सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत स्थूल या वादर हैं। इन्हें प्राक्षण्य पदार्थ को स्थूल और उन्निय अग्राह्य को सूक्ष्म कहना व्यवहार है, परमार्थ नहीं। सूक्ष्म और वादरपन में न अवगाहना की हीनाधिकता कारण है, न प्रदेशों वी, भूनि नाम कर्म ही कारण है। सूक्ष्म स्वत्व व जीव लोक में सर्वत्र भरे हुए हैं पर मृत आवार के विना न रहने के कारण वस नाली के यथायोग्य स्थानों में ही पाये जाते हैं।

**स्थापना निष्ठेष—**‘यह वही है’ उस प्रकार अन्य वस्तु में वुद्धि के द्वारा उन गो आगोपण करना स्थापना निष्ठेष है।

**स्थावर—**पृथ्वी, अप आदि काय के एकेन्द्रिय जीव अपने म्यान पर विद्या रहने के कारण जैववा स्थावर नाम कर्म के उदय में स्थावर कहलाते हैं। ये जीव सूक्ष्म और वादर दोनों प्रकार के होते हैं। सर्व लोक में पाये जाते हैं।

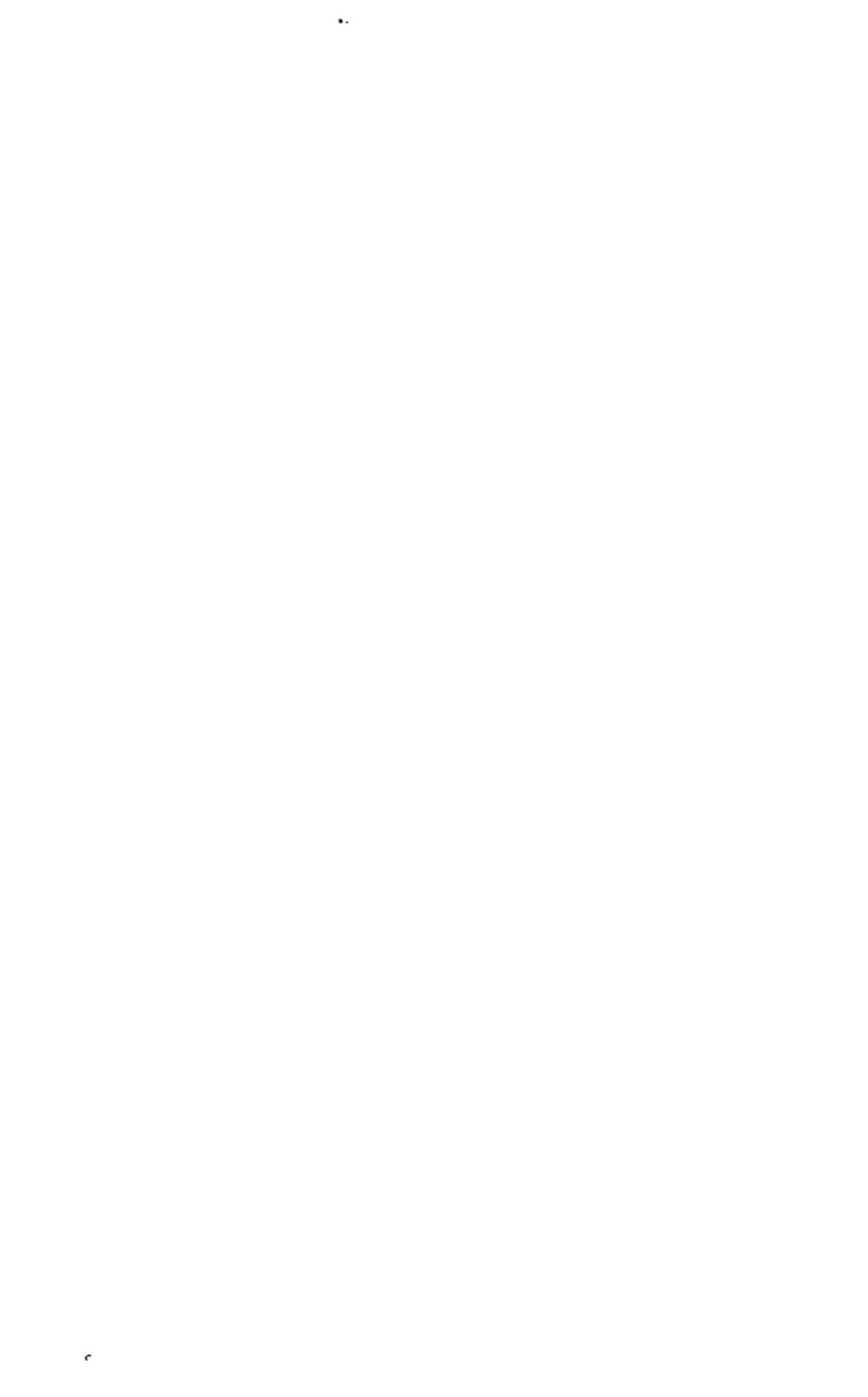
**स्थाद्वाद—**अनेकान्तमयी वस्तु का क्यन करने की पद्धति म्यादार है। किसी भी एक घट्ट या वास्तव के द्वारा मार्गी की सारी वस्तु का मुगापन उत्तम रूप अभिय होने में प्रयोजनवश कभी एक थर्म हो सक्य करके कथन करते हैं उभी दूसरे ही। मुख्य थर्म को मुनते हुए श्रोता को अन्य थर्म भी गीण ऐप में स्वीकार होते रहे ताकि निर्माण होने पाने उस प्रयोजन में अनेकान्तवादी अपने वास्तव के मान म्यादू गा त” निर्माण हो गा प्रयोग करता है।

**स्त्रायाय—**अपने आन्मा का हित करने वाला अध्ययन करना म्यायाग है।











- आचार्य कमलशील २२५  
 आचार्य कुन्दकुन्द ३६, ७६, १४८, २४३, २६२, २६३, ३०६, ३६६  
 आचार्य जिनभद्रगणीक्षमाश्रमण ३६२  
 आचार्य नागमेन ८९  
 आचार्य नागार्जुन १४, ७६, २२, २७, ६६, २७५  
 आचार्य निम्बार्क १०१, १०४, १७७  
 आचार्य नेमिचन्द्र ३६, ६८, ७०, १८६  
 आचार्य पतञ्जलि ६१, १५४, २१८  
 आचार्य पात्रसेयर्णि २७  
 आचार्य पूज्यपाद २४, २२८, ३६०  
 आचार्य मदवाहु २०, ३५८, ३७६  
 आचार्य मामकर १०१, १०२, १०७  
 आचार्य मन्व ५०, १०१, १०७, १७७  
 आचार्य मतयतिरि २४, ३०, ४११  
 आचार्य माणिक्यनन्दी १३४, ३८४, ३६२  
 आचार्य मन्मावादी २७  
 आचार्य मत्तिर्ण २७, २५३  
 आचार्य गमानुज १६, ५०, ७७, १०७, १०८, २७५, २३६  
 आचार्य तिनोऽग २४३  
 आचार्य तिगार्ज ३८२, ३८५  
 आचार्य तीर्थोग १६६, ३६७  
 आचार्य शामा १११  
 आचार्य शार्विता १००







# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अन्योगव्यवच्छेदिकान्वितिका  
 अभिभवदीप और उनके टिप्पण  
 अभिवर्मकोश  
 अनुयोगद्वार  
 अ यात्मगात्र  
 अगुनगतिकाय  
 अष्टक प्राचण  
 अमि राज चिन्नामणि रोग  
 अनुयोगद्वार (पुण्यविजय जी)  
 अट्टगनी  
 अट्टमहसी  
 अन्योगव्यवच्छेदिका  
 अयोधे दग—(दा हजारीप्रमाद द्वितीय)  
 अ दारी—गन्मति जानपीठ, आगर  
 माध्यम फिल्म  
 अपरीमागा—(प० दगुग मातवणिया)  
 अ अगम फिल्म  
 अगमगार  
 अगमगुप रा जैन दगन—(प० दगुग मातवणिया)  
 अ राया अगमलीगारूपता  
 अ रामीपाला  
 अ रामा  
 अ राम मातवणिया तुलि  
 अ राम पद्मी

अ राम कुमार  
 अ राम कुमार  
 अ राम कुमार  
 अ राम कुमार



### जैनदर्शन के मीलिक तत्त्व—(मुनि नथमल जी)

तत्त्वानुयामन

तत्त्वमग्रहपजिका

तर्कभाषा

तत्त्वार्थ—श्रुतसागमीया वृत्ति

तत्त्वार्थभाष्य टीका

तत्त्वार्थमूल

तत्त्वमग्रह पजिका

तैतिरीय उपनिषद्

तत्त्वमग्रह

तत्त्वमग्रह की वहिग्रंथ परीक्षा

तेजोविन्दु उपनिषद्

तन्दुलवेयालिय

तत्त्वार्थ गजवानिर

तर्कमग्रह

तत्त्वार्थमूर—सर्वविमिति

तत्त्वार्थमूर—गजवानिर

तत्त्वार्थमूर—शोकालिक

तत्त्वार्थमूर—४० मुराराम जी

तत्त्वार्थमूर—हरिहरीयावृत्ति

तत्त्वार्थमूर

तत्त्वार्थ—षिरुगीय टीका

तत्त्वार्थ (ब्रह्मानन्द मुरि, गणेशप्रगार पर्णी प्रसादामा)

१५८

१५९ एवं १६० अध्याय अन्त तक, उन्नीसामा

१६१ अध्याय

१६२ अध्याय (१५, मुराराम जी)

१६३

१६४ अध्याय

१६५ अध्याय



न्यायवोध  
 नन्दीमत्र (पुण्य विजयजी म नम्पाटिन)  
 न्यायविन्दु  
 न्यायभाष्य  
 न्यायावतार  
 नित्रमभार  
 न्यायविनिज्ञय टीका  
 न्यायमजरी  
 नवनन्वमाहिन्य नग्रह  
 न्योपदेश  
 नयनहस्य  
 नयकणिका  
 न्यायकुमुदचन्द्र  
 न्योपदेश  
 न्यायावतार टीका--(मिदर्पिगणी)



युजिन मनह प्रपूरणी मिद्वाल्न चन्द्रिका  
 योगदर्जन  
 योगदर्थन भाष्य  
 योगदर्थम तच्च वैयाख्यी  
 योगदर्थन भरस्वती टीका

लोक प्रसाद  
 उरीयन्त्रय

विश्वदग्न री स्पर्शा — (प विजयमुनि)  
 वृहदार्णप्रह उपनिषद्  
 विजुद्रिमगो  
 वृहदनयनक  
 विजेयायश्या भाष्य  
 वेशन्त मृत्ति मत्तरी  
 वैभित्तिसूत्र  
 विजात री स्पर्शा  
 विजाप्ता  
 विज्ञाप्तायह भाष्य  
 वै राष्ट्रभाष्य  
 विज्ञाप्तायह भाष्य गुणि



६

‘त्रिपुरा’ के गोल लिया का शसनीय काम है मारा ।  
त्रिपुरा लिया समुपात जग को कोष्ठ लेयनी के द्वारा ॥

७

त्रिपुरा के गुण, तेजक भी कृति, लेयक है यथा के भागी ।  
अभिनन्दन महावीर के अगर बनेगे अनुरागी ॥

८

अभिनन्दन “नन्दन मुनि” करता लिय करके लघु ममति एक ।  
त्रिपुरा उमका स्पर्ण बहुत ही आकर्षक इस कृति को देय ॥

—चतुर्वद मुनि

‘महावीर अनुशीलन’ पढ़कर नहीं हर्ष का पार रहा ।  
एक एक पवित्र में कितना, मरा पड़ा है मार अहा ॥  
तन भी सुन्दर मन भी सुन्दर, मचमुच अनुपम भव्य निगार ।  
करना ही होगा वेशक सबको यह, मत्य तथ्य स्वीकार ॥  
कितनी निष्ठा, कितने थ्रम से लिया गया यह शोध प्रगत्य ।  
महावीर पर ग्रन्थ बहुत पर, ऐसे थोड़े मौलिक ग्रन्थ ॥  
लेयक का अभिनन्दन करने, हृदय रहेगा कैमे मौन ?  
गुणियों का आदर नहीं करता, उमसा कहो अभागा कौन ?  
कलम कलाधर मुनि देवेन्द्र शास्त्री का है अभिनन्दन ।  
अभिनन्दन है, अभिनन्दन है, ‘कमल’ पुन है अभिनन्दन ॥

—मुनि महेन्द्र कुमार ‘कमल’

९

गगवान महावीर अनुशीलन, पुस्तक वडी अनूठी है ।  
गरमरी निगाह से देरी हमने कोई बात नहीं शूठी है ॥

२

“शास्त्री” भी देवेन्द्र मुनि जी, कमनीय तेजाकरनो !  
गात्रियोद्यान मे गदा-गवंदा, अगना हाथ बड़ानो ॥

३

“महावीर” जान भाग्या शोधपर्ण, यन्त्र पड़ा ।  
“महावीर” जीविन गन्मुच ही, वग-वगा ॥









